सगुण भक्ति काव्य और लीला दर्शन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता
हौसिला सिंह
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

निर्देशक
प्रोफेसर योगेन्द्र प्रताप सिंह
पूर्व अध्यक्ष- हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

मई, 2002

सगुण भक्तिकाव्य और लीला दर्शन

प्रस्तावना

लीला सगुण भक्ति साहित्य की सबसे मधुर कल्पना है। इस लीला को आधार बनाकर इन भक्त कवियों ने लोक और अध्यात्म दोनों को मंडित किया है। लीला की इस अवधारणा में सगुण वैष्णव भक्ति के सम्पूर्ण तत्त्व नाम, रूप, धाम आदि समाहित हैं। आचार्य पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह सगुण भक्तों की सर्वोच्च कल्पना है। इसी लीला के द्वारा ही सगुण भक्त कवियों ने अपने सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव को लोक से जोड़कर व्यापक रचना फलक पर फैलाने की चेष्टा की है। सम्पूर्ण सगुण भक्ति साहित्य प्रभु की लीला से सम्पूर्णतया सराबोर है।

इस लीला सिद्धान्त की अपनी पारम्परिक तात्त्विकता है जिसके अन्तर्गत भक्ति के एक मात्र आधार ब्रह्म को जगत के प्रकाश में सार्थकता देने की चेष्ठा की है। ब्रह्म की तात्त्विकता को आधार बनाकर इन लीलावादी सगुण भक्तकवियों ने अवतार लीलाओं का अहिर्निश गान किया है। इस प्रकार सगुण भक्ति काव्य की केन्द्रीय चेतना लीलाधारित है।

हिन्दी सगुण भक्ति काव्य की कलात्मक व्याख्या के लिए यही लीला मूलाधार है। भक्त कवियों की दृष्टि इसी लीला पर केन्द्रित रही है और लोक तथा अध्यात्म के द्वन्द्ववाद से अपने को जोड़कर ये कवि बराबर भक्ति का आस्वादन करते रहे हैं। यही नहीं, भाषिक अभिव्यक्ति को आधार बनाकर उनकी कविता सर्वत्र

लीलारस को अभिव्यक्त करती हुई पाठकों को भी अभिभूत करती रही है। इस प्रकार लीला इन भक्त कवियों की सर्वोच्च आनन्दमयी कल्पना है। यह कोरी कल्पना ही नहीं, उनकी भक्ति साधना की निष्पत्ति भी है।

हिन्दी भक्ति साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा इन लीलाधारी कवियों से मंडित है। इस लीला दृष्टि से हिन्दी साहित्य ने जिस तरह श्री वृद्धि की है, उसके समानान्तर शायद ही कोई अन्य काव्यधारा मिलती हो। सगुण भक्त कवियों की लीलाश्रित अवधारणाओं दार्शनिक मूल्यों तथा कलात्मक मान्यताओं का विवेचना करना इस शोध ग्रन्थ का मूल मन्तव्य है।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध उपसंहार सहित छः अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत हिन्दी सगुण भक्ति की परम्परा में श्री राम तथा श्री कृष्ण के अवतारों की विशिष्टता, स्वरूप तथा सगुण के मूलाधार नाम, रूप, लीला, धाम के वैशिष्ट्य की चर्चा की गई है और यह चेष्टा की गई है कि उन बिन्दुओं को स्पष्ट किया जाय जिनसे लीलाधर्मी सगुण भक्ति काव्य का वैशिष्ट्य प्रकाश में आ सके।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सगुण भक्ति के प्रकाश में लीला के अर्थ और उसके इतिहास को पूर्ण विस्तार के साथ विवेचित किया गया है। सगुण भक्ति साहित्य के विविध शास्त्रकार आचार्य निम्बार्क, आचार्य वल्लभ, मध्व, विष्णुस्वामी तथा

चैतन्य महाप्रभु के प्रकाश में यहां लीला को स्पष्ट किया है और चेष्टा की गई है कि पुराण परम्परा द्वारा समर्थित विष्णु, ब्रह्मवैवर्त एवम् भागवत आदि में स्थित एतद्विषयक मन्तव्यों को स्पष्ट किया जा सके। इन सबमें भागवत पुराण का महत्त्व अधिक है क्योंकि सगुण भक्त आचार्यो के लिए भागवत विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है।

अध्याय तीन में लीला की तात्त्विकता विशेष रूप से उसके दार्शनिक मन्तव्य एवम् मूल स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस विवेचन का आधार भागवत पुराण तथा आचार्य वल्लभ की सुबोधिनी टीका है। आचार्य वल्लभ ने रास पंचाध्यायी की सुबोधिनी टीका के प्रारम्भमें लीला शब्द की विशद व्याख्या की है और चैतन्य महाप्रभु ने भी इस लीला के सैद्धान्तिकता का विश्लेषण किया है जिसके फलस्वरूप रूपगोस्वामी तथा जीव गोस्वामी आचार्यो ने उसके लिए काव्यशस्त्रीय आधार तैयार किया। इस अध्याय का मूल दृष्टिकोण यह दिखाना है कि इन आचार्यों ने कैसे ब्रह्म की आध्यात्मिकता की सम्पूर्ण निष्पत्ति लीला से जोड़कर की है ?

अध्याय चार का सम्बन्ध विशेष रूप से लीला और माया से है। सगुण भक्ति काव्य आचार्य शंकर की अविद्यामाया को स्वीकार करते हुए भी उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण ब्रह्म की शक्ति माया को महत्त्व प्रदान किया है। सीता और राधा इसके लिए दो महानतम् शक्ति की प्रतीक हैं।

इन्हीं शक्तियों के माध्यम से लीला को आधार बनाकर अवतरित श्री राम और श्री कृष्ण अपने परम लीलाधर्मी आनन्द को व्यक्त करते हैं। माया ही अवतरित ब्रह्म की तिरोहित शक्ति को व्यक्त करने के लिए मूलाधार है और इसी का आश्रय ग्रहण ब्रह्म अपने को अवतरित करता है तथा भक्तगण लीला का आस्वादन करते हैं।

अध्याय पांच के अन्तर्गत सगुण भक्ति काव्य की इस लीलाधर्मी दृष्टि से अभिव्यक्त काव्य आस्वादन का विवेचन किया गया है जैसा कहा गया है कि लीला लोक और अध्यात्म के भक्तिमूलक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है ओर ऐसी स्थिति में लोक साहित्य के पारम्परित मानक उसके मन्तव्य को व्यंजित कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। इसीलिए भक्तिकाल में मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी आदि आचार्यो ने काव्यरस से भिन्न भक्तिरस की अवतारणा का विवेचन इस काव्य की आस्वादन भूमि को स्पष्ट करने के लिए किया है। दृष्टि की यह नवीनता लीला की ही देन है और प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पाँचवे अध्याय में इस तथ्य को विशेष बल देकर विश्लेषित किया गया है।

भक्तिकाल का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सर्वोच्च हित का है। पृथ्वी पर व्यापक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा इसका मूल मन्तव्य है। यह काव्य केवल आनन्द तक सीमित नहीं हैं। लोक मंगल की स्थापना का मन्तव्य इस सगुण भक्ति काव्य की अपनी विशिष्ट अवधारणा है और भारतीय काव्यशास्त्र की पारम्परित

मान्यताओं के अन्तर्गत सांकेतिक रूप से इसका संकेत अवश्य हुआ है किन्तु इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति लीला के माध्यम से सगुण भक्ति काव्य में ही मिलती है इसलिए इस अध्याय के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक इसका विवेचन आपेक्षित है।

सगुण भक्तिकाव्य में लीला और लोक के द्वन्द्व से एक और महत्त्वपूर्ण समस्या उभरकर सामने आती है, यह तत्त्व है, अनुभव की जीवन्तता। भक्तिकाव्य में अनुभव की इस जीवन्तता की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्त कलात्मक मानदण्डों की स्वतन्त्र विवेचना अपेक्षित है जैसे– उदात्त, प्रियता, स्वछन्द प्रेम तथा श्रृंगार, आनन्द आदि कितनी लोकात्मकता से जुड़ी हुई यहाँ दिव्य अनुभूतियां हैं इनका विवेचन हम सौन्दर्यशास्त्र के मानकों से ही कर सकते हैं और इसलिए इस अध्याय के अन्त में इस लीला अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशास्त्रीय मानकों के द्वारा विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है ताकि उसकी जीवन्तता प्रकाश में आ सके।

अन्त में, उपसंहार के रूप में यह विशेष रूप से बताया गया है कि यह लीलाधर्मी सगुण भक्ति काव्य हिन्दी साहित्य के लिए सर्वथा मौलिक एवम् परम्परा से भिन्न मानकों पर आधारित काव्य है और लीलाधर्मिता को बिना केन्द्र में रखे सगुण भक्ति काव्य का विवेचन करना संभव नहीं है।

शोध–प्रबन्ध के पूर्ण होने में निर्देशक गुरुवर प्रो० योगेन्द्र प्रताप सिंह का असीम स्नेह संबल है। शोधकार्य में आदि से अन्त तक उन्होंने किस प्रकार मेरा सक्रिय मार्ग दर्शन किया

और विचलित क्षणों में मुझे कार्यरत रहने का मनोबल दिया है, उसे धन्यवाद ज्ञापन की औपचारिक शब्दावली में नहीं बांधा जा सकता। उनके प्रति मैं अकिंचन किस तरह कृतज्ञता ज्ञापित करूं, समझ नही पा रहा हूं। बस मैं आजीवन श्रद्धावनत् और ऋणी रहूँगा।

मानवता के साक्षात् अवतार एवम् अहैतुकी-उदारता की साकार मूर्ति पूज्य बड़े भ्राताश्री श्री गंगा प्रसाद सिंह का मैं चिर ऋणी हूं जो मेरे शैक्षिक एवम् व्यवहारिक जीवन के प्रेरणाश्रोत रहे हैं उनकी कृपा का मूल्यांकन शब्दों की परिधि के परे है। इस अवसर पर अपने पारिवारिक जनों विशेष रूप से पिताजी, माताजी एवम् भ्राताश्री श्री मुसाफिर सिंह तथा परिवार के सदस्यों के स्नेह का विस्मरण नहीं कर सकता क्योंकि उनकी सद्प्रेरणा से ही शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो0 राजेन्द्र कुमार, प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र, डा0 राम किशोर शर्मा, डा0 रूद्रदेव के सत्परामर्श और प्रोत्साहन के प्रति मै विशेष आभारी हूँ।

अन्त में, मैं उन समस्त आदरणीय एवम् सुहृदजनों का पुनः स्मरण करता हूँ जिनका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सद्भाव इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में उपकारक बना है। विशेष प्रयत्नों के बाद भी यदि टंकण आदि की अशुद्धियां रह गयी हैं तो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

हौसिला सिंह

(हौसिला सिंह)

विषयानुक्रम

विषय **पृष्ठ संख्या**

प्रथम अध्याय

---- 0 ----

भक्ति के स्वरूप का विकास और सगुण दृष्टि

भक्ति के स्वरूप का विकास और सगुण दृष्टि

(क) भक्ति :-

(1) भक्ति शब्द का अर्थ :-

भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन्' जोड़ने से बनता है। 'भज् सेवायाम्' धातु में 'स्त्रियाम् क्तिन्' इस पाणिनीय सूत्र से यह शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार भज् में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से भक्ति शब्द बना है। 'क्तिन्' प्रत्यय का प्रयोग भाववाचक अर्थ में होता है। अतः इसके कारण भक्ति का अर्थ हुआ- भावपूर्वक सेवा। प्रभु की राग तथा भाव के साथ समर्पणपूर्वक सेवा ही भक्ति है।

संस्कृत कोश वाचस्पत्यम् के अनुसार भक्ति[1] शब्द के नौ अर्थ हैं- प्रथम सेवा या आराधना, दूसरा चित्तवृत्ति की एकाग्रता, तीसरा विभाग, चौथा गौणता, पाँचवाँ उपचार (लक्षण), छठां अवयव, सांतवाँ भंगता, आठवां श्रद्धा और नौवां रचना है।

भक्ति शब्द का अर्थ कल्याण मल लोढ़ा ने अपनी पुस्तक भक्ति तत्त्व में इस प्रकार दिया है कि- भक्ति शब्द के 'भज्' धातु का अर्थ है 'सेवा करना' और "भज्जो आमर्दने"। भक्ति शब्द तीन प्रकार से निष्पन्न होता है। "भजनं भक्ति", "भागो भक्ति", "भंजन भक्ति"।[2] "भजनं भक्ति" में भक्त भगवान के गुणों व उनकी लीलाओं का पुनः स्मरण कर रसास्वादन करता है। गोपालतापनीय उपनिषद कहता है कि "नाम भजनं, भजनं नाम रसनम्" नाम भजन

---

1 भक्ति शब्द— वाचस्पत्यम्— भाग छः, पृ0 4618

2. भक्ति तत्व, दर्शन—साहित्य—कला, सम्पादक कल्याण मललोढा एवं जय किशनदास सादानी पृ0 1

ही भक्ति की उपलब्धि है। "भागो भक्ति" से भक्त अपने को भगवान का ही अंश बना देता है, अपनी पृथक् और भव से विभक्त स्थिति में रहता है। भगवान के भाग में चले जाना-यही उसका वैशिष्ट्य है। भक्त जागतिक अस्तित्त्व का निषेध करता है। "भजनं-भक्ति" श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रभु में निष्काम, अखण्ड समर्पण ही भक्ति है।

(2) भक्ति का स्वरूप :-

तात्त्विक दृष्टि से वैदिक देव भक्ति और शास्त्रीय भगवद्भक्ति में मौलिक भेद है। वैदिक भक्ति कर्मकाण्ड के अन्तर्गत है। वह साधनरूपा है, साध्यरूपा नहीं है। उस भक्ति का साध्य स्वर्ग है। भक्तिपूर्वक सम्पन्न यज्ञ आदि द्वारा देव-तुष्टि स्वर्ग प्राप्ति का उपाय है।

भक्ति को सर्वोपरि सिद्ध करके उसका प्रचार करना पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है। इन पुराणों में 'विष्णु-पुराण' के भक्ति निरूपण में 'चित्तवृत्ति' पर ही विशेष बल दिया गया है। जिस प्रकार अज्ञानी जीव का प्रेम विषय-वासना से है, उसी प्रकार जब जीव का आसक्तिपूर्ण प्रेम भगवान के प्रति होता है, तब वह भक्ति कहलाती है।[1] भक्ति-सिद्धान्त के ग्रन्थों में तथा समस्त पुराणों में 'भागवत पुराण' का महत्त्व सबसे अधिक माना जाता है। उसकी महानता का सबसे सबल प्रमाण यह है कि मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य आदि भक्ति सम्प्रदायों में इसे 'प्रमाण-चतुष्टयम्' की श्रेणी में रखा गया है।

भागवत में व्यास ने कपिल के मुख से देवहुति के

---

1. वि०पु०, 1/20/19

प्रति भक्ति की सारगर्भित व्याख्या कराई है। उन्होंने बताया है कि वेद विहित कर्म में लगे हुए जनों की भगवान के प्रति अनन्य भावपूर्वक स्वाभाविक सात्त्विक प्रवृत्ति का नाम भक्ति है।[1] जिस प्रकार गंगा की धारा अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी भगवान के गुण श्रवण से ही प्रादुर्भूत, उनके प्रति अविच्छिन्न मनोगति को भक्ति कहते हैं। इसी को भागवत में अहैतुकी भक्ति कहा गया है। भक्त का प्राप्य भगवान है। भगवान के बिना भक्त को कुछ भी अभीष्ट नहीं है। भागवतकार का मन्तव्य है कि भक्ति की वास्तविक सत्ता मानसिक है। वाह्य–विधान तो साधन मात्र हैं। किसी भी उपाय से भगवान में मन का स्थिरीकरण ही भक्ति है।[2]

नारदीय–भक्ति–सूत्र में भी ईश्वर के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहा गया है।[3] स्पष्ट है कि उनका यह परम प्रेम शाण्डिल्य की 'परानुरक्ति' का ही पर्याय है। नारदीय भक्ति सूत्र के अनुसार भक्ति अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है। जिसको पाकर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता है। न वह शोक करता है और न द्वेष करता है, न किसी संसारी वस्तु में आसक्त होता है। भगवान के प्रेम की व्याकुल अवस्था में भी महात्म्य ज्ञान की विस्मृति न हो, क्योंकि उसके बिना भक्ति लौकिक जार प्रेम के समान हो जाती है। इस प्रेमाभक्ति की ग्यारह आसक्तियाँ हैं, इसी के समान्तर भक्ति की ग्यारह दशाएं भी कही गई हैं।

---

1. भा0पु0, 3/25/32
2. भा0पु0 11/4/14
3. सा स्वास्मिन परम प्रेम रूपा। ना0 भ0 सू0 2

शाण्डिल्य ने अपने 'भक्ति सूत्र' में भक्ति का शास्त्रीय तथा सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। शाण्डिल्य के अनुसार "ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति ही भक्ति है"। "सा परानुरक्तिरीश्वरे"।[1] भक्ति यज्ञ आदि की भाँति क्रियारूपा नहीं है। कारण यह है कि क्रिया में कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा होती है, किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है। गौड़ी भक्ति में क्रिया की आवश्यकता अपेक्षित होती है और यह समस्त क्रियाओं में श्रेयस्कर है। भागवत में कहा गया है कि कर्म का प्रयोजन तभी तक है जब तक निर्वेद या भक्ति का उदय न हो जाये।[2] किन्तु भक्ति को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप भाव रूप है, अभावात्मक नहीं। विधि रूप है, निषेध रूप नहीं।

पांचरात्र आगम में भी भक्तगत अनन्यता एवं तत्परता पर विशेष बल दिया गया है।[3] योग सूत्र के भाष्यकार व्यास ने 'प्राणिधान' को भक्ति विशेष के रूप में स्वीकार किया है।[4] 'प्राणिधान' का अर्थ है, ईश्वर के प्रति सभी कर्मो का समर्पण।

भक्तिमीमांसा में मन के उल्लास विशेष को भक्ति कहा गया है। "भक्तिर्मनस उल्लास विशेषः।"[5]

---

1. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, भक्ति चन्द्रिका, सम्पादक श्री गोपीनाथ कविराज, पृ0 5
2. भा0पु0 11/20/9
3. पांचरात्र म0 च0, पृ0 6
4. यो0 सू0 2/1
5. भक्तिमीमांसा, प्रथम अध्याय, प्रथम पाद, 2

नारद ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विचार भक्ति के सम्बन्ध में दिये हैं, उन्हें यदि प्रामाणिक माना जाय तो पराशर के अनुसार "पूजा आदि में अनुराग रखना ही भक्ति है। "पूजादिष्वनुरागः इति पाराशर्यः।"[1]

शंकराचार्य ने इस विवेक चूड़ामणि में भक्ति का ज्ञानात्मक लक्षण देते हुए स्व-स्वरूपानुसंधान को ही भक्ति कहा है।

मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वारूपनुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।।[2]

रामानुज ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है:- स्नेहपूर्वक किया गया अनवरत ध्यान भक्ति है। "स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।"

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में श्री कृष्ण के प्रति ऐसे अनुराग या प्रेम को उत्तम भक्ति कहा है जो अन्य अभिलाषाओं से शून्य हो, ज्ञान और कर्म से अनावृत्त हो।

अन्याभिलाषितः शून्यं ज्ञान कर्म्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा।।[3]

रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में अनेक प्रकार से भक्ति के भेद-विभेद किए हैं। सबसे पहले भक्ति को सुदुर्लभ और अलभ्य कहते हुए हरिणा और आश्वदेय इन दो भेदों में विभाजित किया है। उसके बाद तीन भेद भक्ति के बताये हैं। साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेमा भक्ति।

---

1. नारद भक्ति सूत्र, 2
2. शंकराचार्य, विवेक चूड़ामणि, 31
3. भक्तिरसामृत सिन्धु, 1/11

शंकर अद्वैतवाद के विरोधी वैष्णव आचार्यों ने अपने-अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार भक्ति की विस्तृत मीमांसा की है। उन्होंने भक्ति को ज्ञान से उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित किया है। सभी ने भक्ति को प्रेम रूपा और आत्म-निवेदन की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्त स्वीकार किया है। उन सभी की कृतियों में सगुण भगवान की लीला एवं अनुग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इन वैष्णव आचार्यों को दो श्रेणियों में सरलता से रख सकते हैं। प्रथम वे आचार्य हैं जो विष्णु के अथवा उनके अवतार राम के उपासक हैं। जिनमें शठकोपाचार्य, रामानुज, रामानन्द आदि हैं। दूसरे वे आचार्य हैं जो विष्णु के अवतार श्री कृष्ण की रूप माधुरी एवं उनकी मधुर लीलाओं के उपासक हैं। इनमें माध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, आचार्य वल्लभ आदि मुख्य हैं।

हम पहले आचार्य रामानुज और रामानन्द के भक्ति विषयक विचारों को समझने के चेष्टा करेंगे। तत्पश्चात् तुलसी के विचारों का विश्लेषण करेगें। रामानुज वैष्णव आचार्यों में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम आचार्य हैं। रामानुज ने ही सर्वप्रथम जीव एवम् ईश्वर में अंश और अंशी सम्बन्ध बतलाया। आत्म तत्त्व तथा भगवत तत्त्व में पूर्ण साम्य न बताकर आंशिक भेद स्थापित किया, जो भक्ति की भावना के लिये परम आवश्यक था। आचार्य शंकर ने मोक्ष का साधन केवल ज्ञान को स्वीकार किया था और भक्ति को अविद्या या भ्रान्ति कहकर उसकी पूर्ण अवहेलना की थी। किन्तु रामानुज ने शंकर की बात को उलटकर भक्ति को ही मोक्ष का एक मात्र साधन स्वीकार

किया और ज्ञान को भक्ति का साधन माना। भक्ति के समस्त भेदों में रामानुज ने दास्य-भाव अथवा सेव्य सेवक भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा और वैकुंठवासी विष्णु को अपना आराध्य स्वीकार किया। इस प्रकार रामानुज के अनुसार ईश्वर के प्रति "स्नेहपूर्वक किए गए अनवरत ध्यान को भक्ति कहते हैं।"[1]

रामानुज दर्शन के अनुयायी रामानन्द ने अपनी भक्ति परिभाषा में भक्ति को जाति और व्यावर्तक धर्मों का ही नहीं, अपितु उनके साधनों, अवयवों और उपलक्षणों का भी समावेश किया। उन्होंने बतलाया कि मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवद् परायण होकर की गई उपाधि निर्मुक्त परमात्म ही सेवा-भक्ति है। वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति-सन्तान रूपा है। तैलधारा की भाँति अविच्छिन्न है। विवेक आदि उसकी सात भूमियों और यम आदि आठ अवयव हैं। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य रामानुज एवम् रामानन्द दोनों ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा और भक्ति को साध्य और साधन दोनों माना।

भक्ति के अर्थ की व्यंजना करने के लिये तुलसी ने अनेक शब्दों का व्यवहार किया है- अनुराग, प्रीति, प्रेम, रति, स्नेह आदि।[2] अनुराग, राग, प्रीति, प्रेम[3] आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य लौकिक प्रीति के अर्थ में भी हुआ है। भगवद् विषयक होने पर यही भाव भक्ति कहलाता है। यह प्रेम राम के प्रति भी हो सकता है और

---

1. गीता पर रामानुज भाष्य, अध्याय 7 की अवतरणिका।
2. राम चरित मानस, बाल0 104/3
3. राम चरित मानस, अयो0, 8/1

नाम के प्रति भी। दोनों ही समान है। अतएव तुलसी के नाम प्रेम को भी गौरव दिया है। इस प्रकार उनकी भक्ति प्रेमरूपा है। राम विषयक प्रीति को ही तुलसी ने भक्ति का स्वरूप लक्षण माना है। प्रीति भक्ति की जाति है। भक्ति की अधिकारिणी वही प्रीति है जो राम से अनन्य भाव से सम्बद्ध हो और सांसारिक विषयों से रहित हो। इस लक्षण में 'प्रीति' शब्द से तुलसी का वही तात्पर्य है जो शाण्डिल्य का 'परानुरक्ति' से नारद का 'परम-प्रेम' से। एक अन्य स्थल पर तुलसी दास ने कहा है कि 'विश्वनाथ के चरणों में निश्छल स्नेह ही राम भक्त का लक्षण है।'[1] इसमें तुलसी दास ने राम-भक्ति और शिव-भक्ति का समन्वय करते हुए दास्यभाव से निश्छल स्नेह को भक्ति कहा है।

यह भक्ति पथ ज्ञान और वैराग्य से युक्त है। ज्ञान और वैराग्य से युक्त जो प्रेम या प्रीति भगवान के प्रति होती है, वही भक्ति है। इस प्रीति में लौकिकता का पूर्ण नाश और भगवान के प्रति आसक्ति का पूर्ण भाव रहता है। इस भक्ति के लिये ध्यान, उपासना, तप, जप, नियम संयम आदि आवश्यक है। साथ ही भगवान के प्रति पूर्ण प्रपत्ति, शरणागति, अनन्यता, उनकी विशालता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता अहैतुकी कृपा आदि का स्थायी भाव होना अनिवार्य है। यह भक्ति सभी के लिए समानरूप से सुलभ है, केवल भगवान के प्रति निश्छल प्रीति चाहिये।

आचार्य वल्लभ की मान्यता है कि भगवान के महात्म्य ज्ञानपूर्वक उनके प्रति जो सुदृढ़ सर्वाधिक प्रेम होता है, उसी

बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू, राम भगत कर लच्छन एहू।

1. राम चरित मानस, बाल0 104/3

को भक्ति कहते हैं। भक्ति ही मुक्ति का एक मात्र साधन है।[1] 'अणुभाष्य' में आचार्य जी ने जिस भक्ति का वर्णन किया है, उसकी प्राप्ति किसी साधन या पुरूषार्थ से नहीं है, वह तो भक्त को केवल भगवान की कृपा के बल पर मिलती है। इस भक्ति को आचार्य जी ने 'पुष्टमार्गीय' भक्ति कहा है, जिसका आधार भगवद्-अनुग्रह ही है। आचार्य वल्लभ ने संसार के जीवों की तीन श्रेणियां निर्धारित की हैं- पुष्टिमार्गीय जीव, मर्यादा मार्गीय जीव, और प्रवाह मार्गीय जीव। इन्हीं तीन वर्गो के आधार पर तीन प्रकार की भक्ति कही जा सकती है; पुष्टिपुष्ट भक्ति, मर्यादा पुष्ट भक्ति तथा प्रवाही पुष्ट भक्ति। इनमें आचार्य जी के मत से सर्वश्रेष्ठ भक्त पुष्टि-पुष्ट मार्गीय है।

वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव के साथ माधुर्य भाव की भक्ति का समावेश, तत्कालीन प्रचलित अन्य कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के भाव से माना जा सकता है। आचार्य जी का विशेष सम्पर्क चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायियों से था। इसका प्रमाण भी वल्लभाचार्य की जीवनी 'निजवार्ता' तथा 'वल्लभ दिग्विजय' आदि ग्रन्थों से मिलता है। इससे सम्भव है कि आचार्य जी को कृष्ण की मधु भक्ति की प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु से मिली हो। इस प्रकार यद्यपि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश तो आचार्य जी ने अपने सम्प्रदाय में अपने ही जीवन में स्वयं कर लिया था, किन्तु राधा की अथवा युगल रूप की उपासना का समावेश गोस्वामी विट्ठलनाथ जी

---

1. महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।।
तत्वदीप 1/45

ने ही किया। सूरदास आदि भक्तों की रचना में युगल स्वरूप तथा राधा की स्तुति के जो अनेक पद मिलते हैं वे विट्ठलनाथ के समय से कहे जा सकते हैं।

भक्ति के प्रमुख संचालक, भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास ने गोस्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर जिस भक्ति पद्धति का अनुसरण किया है, वह वैष्णव सम्प्रदाय में सख्य भाव कोटि की अनच भक्ति कही जाती है। उपासक अपनी अन्य निष्ठा भावना से कृष्ण के पुनीत चरणों में लीन होकर विषय वासना रूपी आसक्ति से मुँह फेरकर सब कुछ अर्पित कर देता है। सूरदास ने निर्गुण साधना पद्धति को स्वीकार कर कुछ पदों की रचना की है–

नैननि निरखि श्याम स्वरूप।
रहयो घट–घट व्यापि सोइ ज्योति रूप अनूप।।[1]
माधव नैकु हटकौ गाई
भ्रमत निसि वासर अपथ पथ अगहिं–गहिं नाहिं जाई।।[2]

सूरदास जी वाह्य साधना (सगुण सेवा पूजा) की अपेक्षा आन्तरिक साधना (निर्गुण, ध्यान, उपासना) को अधिक महत्व दिया है यह उनके वहिर्मुखी वृत्ति का परिचायक तो है ही साथ ही साथ जगत रूपी भावना का विस्तार उन्हें दृष्टिगत होने लगा है और वे सगुण रूप में ईश्वर लीला गुणगान करने लगे हैं।

---

1. सूरसागर, पद– 213
2. सूरसागर, पद– 56

(3) भक्ति का महत्त्व :-

भक्ति की महत्ता के विषय में तुलसीदास का विचार है कि भक्ति के बिना कोई भी साधन अभीष्ट फल और सुख नही दे सकता है एक मात्र भक्ति ही सर्वफलदात्री है। वह स्वतन्त्र है और अत्यन्त प्रबल है। कर्मयोग और ज्ञान उसके अधीन हैं और इस भक्ति की साधना में सहायक हैं। जप, तप, नियम, योग श्रुति में वर्णित नाना शुभ कर्म, ज्ञान दया, दम, तीर्थाटन और स्नान इत्यादि जितने धर्म बताये गये हैं उन सबका और वेद, पुराण सुनने आदि का एकमात्र फल है- भगवान के चरणों की प्रीति। इस प्रकार ज्ञान इत्यादि का महत्त्व भक्ति के सामने तुच्छ है, क्योंकि ज्ञान का मार्ग अत्यन्त कठिन हैं, उसके साधन और कठिन हैं। बड़े से बड़ा कष्ट उठाने पर ही लोग उसे पाते हैं, किन्तु भक्तिहीन होने पर वह ज्ञानी भी भगवान को प्रिय नहीं है। भगवान की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्ति है उसमें न योग साधन की आवश्यकता है न यज्ञ, न तप, न उपवास आदि किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं हैं। इसमें तनिक भी प्रयास नही करना पड़ता। यह तो अत्यन्त सुगम पथ है जिससे राम मिलते हैं और भगवान राम के मिलते ही भक्त का माया बन्धन दूर हो जाता है। भक्ति की तुलना में ज्ञान और कर्म कांड की हीनता से तुलसीदास बताते हैं परन्तु स्वतन्त्र रूप से इनकी निन्दा नहीं करते हैं। अकेली भक्ति भगवान की प्राप्ति करा सकती है किन्तु अकेले ज्ञान या कर्म भगवान को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। अकेले ज्ञान अत्यन्त कठिन और सर्वसुलभ नहीं, किन्तु भक्ति सर्वसुलभ और सरल है।

(4) भक्ति के प्रकार :-

कृष्ण भक्त एवम् राम भक्त कवियों ने भक्ति का विभाजन करके उसके वर्गीकरण आदि की कोई क्रमबद्ध शास्त्रीय विवेचना नही की है क्योंकि ये भावुक भक्त कवि थे और भक्ति के व्यावहारिक साधक थे। जो कुछ वर्गीकरण का अन्तः सूत्र मिलता है वह संस्कृत के भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर या उससे प्रभावित है। प्रसंगवश उन मान्य ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है। इन ग्रन्थों में कृष्ण काव्य श्रीमद्भागवत एवम् रामकाव्य अध्यात्म रामायण से विशेषतया प्रभावित है और शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र, नारद-भक्ति सूत्र आदि ग्रन्थों का समान प्रभाव दोनों पर है। इन दोनों कृष्ण एवम् राम धाराओं में कृष्ण कवियों ने वर्गीकरण पर कम ध्यान दिया है किन्तु राम कवि तुलसीदास भक्ति की व्याख्या और वर्गीकरण के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि से भी कुछ सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास की यह भक्ति विषयक सैद्धान्तिक व्याख्या 'राम लक्ष्मण संवाद' और 'शबरी मिलन' के प्रसंग में अधिक स्पष्ट है। प्रेमाभक्ति ही वस्तुतः भक्ति है। श्रवण कीर्तन आदि भक्ति के साधन मात्र है उनके लिए 'भक्ति' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। भक्ति ग्रन्थों में भक्ति के विभिन्न वर्गीकरण किए गये हैं। भागवतकार ने अनेक अवसरों पर भक्ति के स्वरूप, साधन, साध्य, साधक आदि की दृष्टियों से भक्ति के अनेक भेद किए हैं- त्रिधा, चतुर्धा, पंचधा, नवधा। भागवत के अनुसार मुक्ताफल सप्तम अध्याय में भागवत के सन्दर्भोल्लेख सहित उद्धरण देकर भक्ति के अंगों का उन्नीस प्रकार से वर्गीकरण किया है यह वर्गीकरण वैज्ञानिक न होने पर भी भक्ति सम्बन्धी आवश्यक बातों का उल्लेख करता है।

रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' के पूर्व विभाग की अंतिम तीन लहरियों में भक्ति के बारह भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया हैं।

(i) साधक दृष्टि से भक्ति के भेद :-

श्रीमद्भागवत में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गई है- निर्गुणा, सात्विकी, राजसी और तामसी। प्रथम निर्गुणा भक्ति निष्काम है, शेष तीनों भक्ति सकाम। तीनों गुणों से ऊपर उठे हुए साधक की सर्वान्तर्यामी पुरूषोत्तम में लगी हुई अहैतुकी एवम् गंगा प्रवाह की भॉति अविच्छिन्न चित्त वृत्ति निर्गुण भक्ति है। यह साध्य रूपा निष्काम भक्ति है। पाप-क्षालन के लिए अथवा कर्तव्य बुद्धि से की गई भेद भाव मुक्त भक्ति सात्त्विकी है। हर्ष अथवा सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण इसको सात्त्विकी कहते हैं। भोग-लोलुप यशोभिलाषी ऐश्वयार्थी नित्य सकाम हृदय साधक के द्वारा भेद बुद्धि से की गई भक्ति राजसी है। क्रोधी, मत्सरी, हिंसक और दम्भी द्वारा परपीड़न के लिये की गयी भक्ति तामसी है। भागवत के इस वर्गीकरण को वल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकार किया गया है। सूरदास ने निर्गुण भक्ति को 'सुधा-सार' भक्ति भी कहा है। इस प्रकार सूरदास ने भागवत के विभाजन का पूर्ण अनुसरण करते हुए भक्तों के भी दो भेद कर दिये है- एक सकाम भक्त दूसरा निष्काम भक्त। भक्ति के साथ कर्म और ज्ञान का योग करते हुए सूर ने तीन तरह के भक्त और कहे हैं। कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त, ज्ञानयोगी भक्त। सूरदास का कथन है कि कर्मयोगी भक्त वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए भगवद्भक्ति करता है। वह अधर्म कभी नहीं करता

और इस आचरण से वह संसार से निस्तार पा जाता है। वे भक्त, भक्तियोगी हैं, जो विधि पूर्वक भगवान का स्मरण, उनकी पूजा तथा उनके चरण कमलों में सदा प्रीति करते हैं। ये भक्ति योगी भक्त क्रम-क्रम करते मुक्ति का लाभ करते हैं तथा क्रम-क्रम से ही ईश्वर के चरणों में सायुज्य लाभ करते हैः तीसरे भक्ति ज्ञानी हैं, जो सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म जानकर सबसे हित करते हैं।

(ii) साध्य और साधन दृष्टि से भेद :-

भक्त के साध्य और साधन दृष्टि से भक्ति के दो प्रकार हैं :-

1. साध्यरूपा
2. साधनरूपा

दोनों क्रमशः मुख्या और गौड़ी कहलाती हैं। भक्त का एक मात्र साध्य या प्राप्य होने के कारण ही इसे साध्य रूपा या मुख्या कहा गया है। इसी को नारद ने 'भगवत्परम् प्रेम रूपा', शांडिल्य ने ईश्वर 'परानुरक्ति' और वल्लभाचार्य ने 'प्रेम रूपा भक्ति' कहा है। भक्त के लिये सबसे उच्च वस्तु होने के कारण यह परा भक्ति दो प्रकार की मानी गयी है- साधन जन्या और कृपा जन्या। जब भक्ति की सिद्धि विहित या अविहित साधनों के द्वारा होती है तब यह साधन जन्या कहलाती है जब बिना किसी स्पष्ट साधन के केवल भगवान की कृपा से परम भक्ति की प्राप्ति होती है तब इसे कृपा जन्या कहते हैं।

साध्य साधन दृष्टि से भक्ति का दूसरा भेद साधन रूपा भक्ति है। इसमें 'भक्ति' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। क्योंकि

साध्या भक्ति के साधनों को ही साधनरूपा भक्ति कह दिया जाता है। वस्तुतः यह भक्ति नहीं है बल्कि प्राप्त करने का साधन मात्र है। शास्त्रीय दृष्टि से यह गौड़ी या साधन रूपा भक्ति दो प्रकार की है:-

1. वैधी (विहिता)
2. रागानुगा (अविहिता)

1. वैधी (विहिता) :-

भगवान के प्रति परम भक्ति भाव की प्राप्ति के पूर्व शास्त्र के शासनानुसार जो प्रवृत्ति होती है, वह वैधी या विहिता भक्ति है। इसी को मर्यादा मार्ग भी कहा जाता है। इस भक्ति का अधिकारी वह श्रद्धावान साधक है जो न अतिविरक्त है और न अति आसक्त। इस वैधी भक्ति के अन्तर्गत भागवत या अध्यात्मरामायण की नवधा भक्ति है।

2. रागानुगा (अविहिता) :-

दूसरी साधन रूपा भक्ति रागानुगा या अविहिता है इष्ट विषयक स्वाभाविक प्रेममई तृष्णा को राग कहते हैं। इस राग के द्वारा निष्पन्न परम प्रेम रूपा भक्ति का साधनभूत यह राग ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है :-

1. काम रूपा
2. सम्बन्ध रूपा

काम (दाम्पत्य रति) से प्रेरित भक्ति काम रूपा है। गोपियों की भक्ति उसी प्रकार की है।

अन्य प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों से अनुप्राणित भक्ति सम्बन्ध रूपा है, जैसे- दास, सखा, माता-पिता, पुत्र-पति आदि

के सम्बन्ध में जो काम रहित प्रेम है वह सम्बन्ध स्वरूपा रागात्मिका भक्ति के हैं।

आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों की रचनाओं में भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों की भांति परा या मुख्या, गौड़ी या साधन भक्ति अथवा वैधी और रागानुगा इस प्रकार के भेदों उपभेदों का वर्गीकरण नहीं मिलता है। उपर्युक्त प्रकार की भक्ति के उदाहरण अवश्य ही इनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलते हैं, केवल भक्ति का वर्गीकरण नवधा[1] या दशधा[2] के रूप में अवश्य मिलता है। वल्लभ सम्प्रदाय में साध्य भक्ति या परा भक्ति तथा साधन भक्ति के दोनो प्रकारों- वैधी तथा रागानुगा को स्वीकार किया गया है। वल्लभ सिद्धान्तानुयायी अष्टछापी भक्त कवियों में भी वैधी रागानुगा तथा परा भक्ति का विवेचन मिलता है। भाव भक्ति द्वारा पराभक्ति या निष्काम प्रेम भक्ति की प्राप्त करना कृष्ण भक्तों का ध्येय है। इन कवियों के अनुसार परा भक्ति अहैतुकी है। वल्लभ सिद्धान्तानुसार सूरदास का विचार है कि प्रभु अनुग्रह के सहारे प्रेम भक्ति अथवा परा भक्ति की अवस्था प्राप्त करने के बाद फिर भक्त को किसी साधन नियम तथा मोक्षादि की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए इस भक्ति को प्रेम लक्षणा भक्ति अनुग्रह या पुष्टि भक्ति अथवा निस्साधन भक्ति कहा गया है। प्रेम भक्ति की भाव समाधि में भगवान के नाम और लीला द्वारा जिस चरम आनन्द का

---

1. सूर सारावली सूरसागर, बें0 प्रे0, पृ0 5
2. ताते दशधा भक्ति भली।

X X X

अविरल प्रम भयो गोपिन को बलि परमानन्ददास।

डा0 दीनदयाल गुप्त के परमानन्ददास के पद संग्रह से, पद सं0- 314

तथा ईश्वर की रूप–सुधा के आस्वादन का अनुभव भक्त करता है उसी को कृष्ण भक्तों ने "भजनानन्द" कहा है। सूर की तरह परमानन्द दास भी प्रेम लक्षणा भक्ति की महत्ता बताते हुए उसको करने तथा उससे भगवान कृष्ण का सामीप्य लाभ प्राप्त करने का भाव कई पदों में प्रकट किया है।

(iii) नवधा भक्तिः–

भक्ति के विभिन्न वर्गीकरणों में नौ प्रकार की नवधा भक्ति की प्रसिद्धि सर्वाधिक है। भक्ति की शास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक प्रकार की नवधा भक्तियों का निरूपण किया गया है इनमें अध्यात्म रामायण और भागवत की नवधा भक्ति का विशेष सम्मान हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में आलोच्यकालीन कृष्ण कवियों ने भागवत की नवधा भक्ति का क्रम और राम कवि तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण की नवधा भक्ति का क्रम ग्रहण किया है।

कृष्ण काव्य में नवधा भक्तिः–

कृष्ण कवियों ने भागवत की जिस नौ प्रकार की भक्ति का अनुसरण किया है। वह इस प्रकार है– श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, तथा आत्म निवेदन।[1] इन नौ भक्ति में से श्रवण, कीर्तन और स्मरण भगवान के नाम से सम्बन्ध है तथा दास्य, सख्य और आत्म निवेदन ये भाव हैं, जिसका

---

1. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यात्म निवेदनम्।
   इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्यम् लक्षणा।
   क्रियते भगवत्यया तनमन्ये धीतमुत्मम्।

अर्पण भगवान में होता है। तीन भावों दास्य, सख्य और आत्म निवेदन के अतिरिक्त वात्सलय और माधुर्य आदि भाव भी भगवान के साथ सम्बन्धित हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति को भक्ति का साधन माना है और साध्य प्रेमाभक्ति को स्वीकार किया है तथा इस साध्य प्रेमा भक्ति को नवधा भक्ति के अतिरिक्त दशवीं 'प्रेमलक्षणा भक्ति' भी कहा है। यही प्रेम लक्षणा भक्ति वल्लभ सम्प्रदाय में मुख्य है, जिससे भगवान के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों ने वल्लभ मतानुसार नवधा भक्ति को भक्ति प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया है और भक्ति का साध्य प्रेमा भक्ति को माना है। सूरदास ने नवधा भक्ति और दशवीं प्रेमलक्षणा भक्ति का उल्लेख इस प्रकार किया है–

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादरत, अरचन, वन्दन, दास।
सख्य और आत्म निवेदन प्रेमलक्षणा – जास।।[1]

परमानन्ददास ने भी एक पद में इन्हीं दस प्रकार की भक्तियों का उल्लेख करके दशवीं प्रेमलक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया है और इस भक्ति की साधक गोपियों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।[2] नन्ददास ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रास–पंचाध्यायी का महत्त्व बताते हुए कहा है, यह कृति मेरे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति साधनों का फलस्वरूप सार है।[3] इस कथन में उन्होंने नवधा भक्ति को

---

1. सूर सारावली सूर सागर,वे0प्रे0 पृ0 5 तथा पृ0 69
2. ताते दसधा भक्ति भली।
   x x x
   अविरल प्रेम भयो गोपिन को बलि परमानन्ददास।
   डा0 दीन दयाल गुप्त के परमानन्द दास पदसंग्रह से पद संख्या 314
3. रास पंचाध्यायी : 'नन्ददास', पृ0 182

साधन रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नन्ददास ने भी अन्य अष्टछाप के कवियों सूरदास और परमान्ददास की भांति भागवत और आचार्य वल्लभ द्वारा मान्य नवधा भक्ति को मानते हुए सर्व साधनों का फल प्रेम भक्ति प्राप्ति ही माना है।

राम काव्य में नवधा भक्ति :-

राम काव्य के अन्तर्गत कवियों में अकेले तुलसीदास की ही रचनाओं में भक्ति का वर्गीकरण प्राप्त होता है। यह वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास की दृष्टि में तत्कालीन भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों एवं भक्ति सम्प्रदायों के मान्य भेद मौजूद और उन सभी मान्य भेदों को ध्यान में रखते हुए तुलसीदास ने समन्वय भावना से सभी भेदों का उल्लेख किया है और इसी कारण तत्कालीन अति प्रसिद्ध भक्ति का नवधाभेद भी उनसे नही छूटा है। इस नवधा भक्ति की चर्चा उन्होंने रामचरितमानस में की है।[1] किन्तु जब तुलसीदास नौ प्रकार की भक्तियों का वर्णन करते हैं तब उनकी सूची भागवत की सूची से भिन्न हो जाती है। क्योंकि उस विषय में उन्होंने अध्यात्म रामायण का अनुसरण किया है। अध्यात्म रामायण में राम के मुख से शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश कराया गया है।[2] रामचरितमानस के राम ने भी उसी प्रकार की नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए शबरी से कहते हैं- मैं तुमसे अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ, तू सावधान होकर सुन और मन में धारण कर :-

---

1. रा0च0मा0, अरण्य का0 20/4
2. अ0रा0 अरण्य का0 10/22-31

प्रथम है, संतों का सत्संग, दूसरी है, मेरे कथा प्रसंग में प्रेम, तीसरी है, अभिमान रहित गुरू चरणों की सेवा, चौथी है, कपट रहित गुणों का ज्ञान, पाँचवी है, मेरे मंत्रों का जाप और मुझमें अटल विश्वास, छठीं है, इन्द्रियों का निग्रह, शीलता, व वैराग्य और धर्मरति, सातवीं है सम्पूर्ण जगत को मुझमें समभाव से ओत-प्रोत देखना, आठवीं स्वप्न में भी पराए दोषों को न देखना और नवीं है, सरलता पूर्वक सब के साथ छल रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना।[1] यही एक नवधा भक्ति है जिसका व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन तुलसीदास ने किया हैः-

नवधा भगति कहौं तोहिं पाहीं। सावधान सुनु धरू मनमाहीं।।
प्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुरू पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमानि।
चौथी भगति मम गुन मन करहिं कपटि तजिगान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा, पंचम भगति सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील विरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा।।
सातवं मम मोहिमय जग देखा। मो ते संत अधिक कर लेखा।।
आठवं जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहीं देखहिं पर दोषा।।
नवम सरल सब सन बल हीना। मम भरोस हिय हरस न दीना।।

उनकी दृष्टि में भक्ति विधाओं या साधनों के उस वर्ग का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है यह बात ध्यान आकृष्ट किए बिना नही रहती कि तुलसी ने भागवत प्रतिपादित भक्ति की श्रवण आदि नव विधाओं का उस प्रकार व्यवस्थित उपस्थापन नही किया, जिस प्रकार भागवतकार या उनके अनुवर्ती आचार्यो ने किया है। एक स्थान पर

---

1. राम चरित मानस, अरण्य का0 35/4, 36/4

उन्होंने भगवान राम के मुख से लक्ष्मण के प्रति श्रवणादिक नव भगति कहलाकर उसकी अभिव्यंजना की है, तथा अन्य स्थलों पर विभिन्न सन्दर्भों में प्रकारान्तर से श्रवण कीर्तन आदि नव प्रकारों की श्रेष्ठता, साधनता आदि का अभिधा या व्यंजना द्वारा कथन किया है।

भक्ति के दो अन्य भेद सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति भी किए गए हैं। सगुण भक्ति अधिक प्रचलित है। निर्गुण भक्ति का स्वरूप विवेचन रहस्यवादियों द्वारा दिया गया है। इसी प्रकार निर्गुण और सगुण भाव की पूजा पद्धति भी विवेचित है। सगुण भक्ति के सम्बन्ध अवतार वाद से है। अविहिता भक्ति के और चार भेद किए गये है- कामजा, द्वेषजा, भयजा।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि भक्ति तत्व मूलतः दिव्य प्रेम की उच्चतम स्थिति है, जहाँ भक्त और भगवान का भेद नष्ट होकर दोनों में पूर्ण एकात्म होता है। यही सायुज्य भक्ति है। भक्ति की यही चरम परिपूर्णता है।

(ख) ब्रह्म और उसका सगुण भाव :-

शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिकूल ब्रह्म विषयक द्वैत सिद्धान्त के विवेचकों ने ब्रह्म की सच्चिदानन्द सत्ता उसके अज, अद्वैत, निर्गुणत्त्व आदि का खंडन नही किया, उसके सर्वसामर्थ्यवान स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसकी लोकात्मक व्यावहारिकता की स्थापना की, और इस स्थापना के मूल में मन्तव्य यह रहा कि जो अज अद्वैत, अज्ञेय, निर्विशेष, नित्य निर्गुण ब्रह्म है यह लोक के लिये अनुभव का आधार कैसे बने? उसे लोकानुभव तक

उतारने के लिए लीला और अवतरण की कल्पना की गयी। इस प्रकार सगुण भक्त रामानुजाचार्य निम्बार्क, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य चैतन्य आदि ने अद्वैत ब्रह्म के द्वैत रूप को सगुणात्मकता से जोड़ा।

शंकराचार्य के सिद्धान्त का महावाक्य है कि "सर्व खल्विदं ब्रह्म" जिसके अनुसार समस्त संसार में एक मात्र ब्रह्म का ही अस्तित्त्व है। जीवात्मा एवम् परमात्मा में कोई भेद नहीं है तथा जो भेद प्रतीत होता भी है तो वह मात्र भ्रम या अज्ञानता के कारण। इस प्रकार शंकराचार्य पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही मानते हैं और ब्रह्म के सगुण स्वरूप का खण्डन करते हैं। वे मोक्ष प्राप्ति का साधन भक्ति को न मानकर ज्ञान को मानते है। भक्ति भ्रान्ति या अविद्या है।

ऊपर वर्णित शंकराचार्य का सिद्धान्त सगुण उपासना के विपरीत था। सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा करने एवम् भक्ति प्राप्ति का एक मात्र साधन बताने के लिए शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन आवश्यक था और इसी परिप्रेक्ष्य में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत में उसी आवश्यकता की पूर्ति हुई।

शंकर अद्वैतवाद के विरोधी वैष्णव आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार भक्ति की विस्तृत मीमांसा की है। उन्होंने भक्ति को ज्ञान से उच्चतर कोटि प्रतिष्ठित किया है। सभी ने भक्ति को प्रेम रूपा और आत्म निवेदन की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। उन सभी की कृतियों में सगुण भगवान की लीला एवम् अनुग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इन वैष्णव

आचार्यो का भक्ति सिद्धान्त वेद, उपनिषद, गीता, महाभारत तथा समस्त पुराणों के आधार पर निर्धारित किया गया है। इन वैष्णव आचार्यो को हम दो श्रेणियों में सरलता से रख सकते हैं- प्रथम तो वे आचार्य है जो विष्णु के अथवा उनके अवतार राम के उपासक है और जिनकी भक्ति दास्य भाव प्रधान है। इनमें शठकोपाचार्य, रामानुज तथा रामानन्द आदि हैं। दूसरे वे आचार्य हैं जो विष्णु के अवतार श्री कृष्ण की रूप माधुरी एवम् उनकी मधुर लीलाओं के उपासक हैं किसी ने बालरूप की लालीाओं को प्रधानता दी, किसी ने यौवन की श्रृंगारिक लीलाओं को। इनमें माध्व, निम्बार्क, विष्णु स्वामी, आचार्य वल्लभ आदि मुख्य है। प्रथम के भक्ति विषयक सिद्धान्त को राम काव्य के अन्तर्गत देखेंगे और द्वितीय के कृष्ण काव्य के अन्तर्गत। केवल अद्वैत वेदान्तियों की दृष्टि में ज्ञान ही मोक्ष का एक मात्र साधन था, भक्ति सा स्थान गौण था, भक्ति उन्हें ज्ञान के साधन के रूप में मान्य थी। इसीलिये शंकर आदि ने भक्ति को भ्रम या अविद्या कहा क्योंकि अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म और आत्मा तत्त्व में किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। किन्तु भक्ति के लिए भक्त और भगवान में द्वैत का भाव होना अनिवार्य है, चाहे यह आंशिक ही हो, किन्तु ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भक्ति की धारा इतनी शक्तिशाली और व्यापक हो गयी कि अद्वैतवादी वेदान्त भी उससे प्रभावित हो गया।

शंकराचार्य ने ब्रह्म की सत्ता मानते हुए उसके समस्त गुणों का खण्डन किया था। शंकराचार्य का कथन था कि ब्रह्म की एक मात्र सत्ता अवश्य है- 'न नास्ति ब्रह्म, कस्मादाकाशादि हि सर्व कार्ये

ब्रह्मणो ग्रह्यते।' ब्रह्म नही है, ऐसी बात नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण कार्यवर्ग देखने में आता है।[1] परन्तु शंकराचार्य ने ब्रह्म के समस्त गुणों का खण्डन किया। जहाँ शंकराचार्य ने प्राकृत अप्राकृत समस्त गुणों का ब्रह्म में अभाव बताया वहाँ रामानुज ने कहा कि वह प्राकृत गुणों से रहित है। रामानुज और शंकराचार्य में दो शताब्दियों का अन्तर समझा जाता है फिर भी दोनों का नाम एक क्रम में रख दिया जाता है। इसका कारण यह है कि शंकराचार्य ने जब तर्क सहित ब्रह्म के समस्त गुणराहित्य की स्थापना की तब उनके बाद रामानुज ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने तर्क सहित ब्रह्म में अप्राकृत गुणों का समावेश सिद्ध किया। एक स्थल पर नहीं, अनेक स्थलों पर रामानुज ने ऐसा कहा है कि ब्रह्म कल्याणकारी गुणों से परिपूर्ण है। श्रुतियों के 'नेति नेति' को समझाते हुए रामानुज कहते हैं। कि जितना उसको कहा गया है उतना ही वह नहीं है। ब्रह्म सत्, चित्त, आनन्द इन तीनों गुणों से युक्त है। वह 'विष्णु' रूप में है।

इस प्रकार निर्गुण स्वरूप को स्वीकार करने वाले पहले आचार्य रामानुज थे। रामानुज के बाद मध्व, निम्बार्क, रामानन्द, वल्लभ आदि आचार्यो ने सगुण ब्रह्म के स्वरूपों का यत्किंचित भेद के साथ विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

रामानुज के समय से उपासना और भक्ति पर आचार्यो ने अधिक बल दिया। ब्रह्म के निर्गुण सगुण की व्याख्या करना

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद, वल्ली 2, अध्याय 6, शांकरभाष्य

उनका ध्येय नहीं था। निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए ब्रह्म के सगुण स्वरूप के किसी विशेष रूप को लेकर उसकी उपासना करना इनका इष्ट था। रामानन्द रामानुज की परंपरा में माने जाते हैं। उन्होंने तत्त्ववाद की अधिक व्याख्या न करके राम की भक्ति का प्रचार किया। परवर्ती आचार्यो का आपसी मतभेद इस बात को लेकर नहीं था कि भगवान निर्गुण है कि सगुण, वरन् इस बात को लेकर था कि वह सगुण किस प्रकार का है। सगुण के ही अनेक स्वरूपों के विषय को लेकर मध्ययुगीन आचार्यो में अधिक मतविभेद रहा। स्पष्ट है कि निर्गुण भावना के साथ साकार स्वरूप युक्त सगुण भावना को बाद के आचार्य स्वीकार करके चले। रामानुज ने विष्णु नाम से ब्रह्म को अमिहित कर बासुदेव को षडैश्वर्यगुणों से युक्त प्रथम व्यूह मान 'लक्ष्मी नारायण' की उपासना का प्रचार किया था। रामानन्द ने राम को जो कि ब्रह्म के एक सगुण अवतार के रूप में स्वीकार्य हैं, परमहष्ट के रूप में स्वीकार किया। निम्बार्क की परम्परा में कृष्ण की उपासना का प्रचलन हुआ। अणुभाष्य में वल्लभाचार्य ने ब्रह्म की सैद्धान्तिक व्याख्या की, किन्तु उनका भी परम लक्ष्य कृष्ण की भक्ति का प्रचार था।

ऐसा सभी विद्वान मानते रहे हैं कि, रामानुज, निम्बार्क, विष्णु स्वामी और मध्वाचार्य ने अपने विभिन्न वैष्णव मतवादों की स्थापना शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में की थी। शंकराचार्य पक्के निर्गुणवादी थे, भक्ति के क्षेत्र में यह बहुत बड़ा व्यवधान था। इस सम्बन्ध में डा0 विजयेन्द्र स्नातक का निम्नलिखित कथन उल्लेख योग्य है कि शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म सगुण भक्ति के क्षेत्र में कैसे

ग्राह्य हो सकता था? फलतः उसके विरोध के लिए एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म की आवश्यकता थी जो वैष्णव भक्ति की परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एवम् स्वीकार्य हो सके। इस प्रकार रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने विष्णु के अवतारी रूपों की भक्ति का प्रचार किया।

रामानुज वैष्णव आचार्यो में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने अपने विशिष्टाद्वैत में जिस दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, उसका उद्देश्य शंकर के मायावाद का खण्डन करके भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करना था। रामानुज ने ही सर्वप्रथम जीव और ईश्वर में अंश और अंशी सम्बन्ध बताया। आत्म तथा भगवद् तत्त्व में पूर्ण साम्य न बताकर आंशिक भेद स्थापित किया जो भक्ति की भावना के लिए परम आवश्यक था। भक्ति के समस्त भेदों में रामानुज ने दास्य भाव अथवा सेव्य सेवक भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा और वैकुन्ठवासी विष्णु को अपना आराध्य स्वीकार किया आराध्य विष्णु को प्रसन्न करने के लिये पूर्ण शरणागति अथवा पूर्ण प्रपत्ति का सिद्धान्त स्थिर किया। उस प्रपत्ति के लिए ध्यान और उपासना अनिवार्य है। ध्यान और उपासना के स्वरूप की व्याख्या रामानुज के अनुसार इस प्रकार है– "ध्यान और उपासना शब्दों का व्यवहार स्मृति (चिन्तन) के प्रवाह रूप ज्ञान के लिए किया जाता है, जो दर्शन के समान आकार वाला हो जाता है। उपासना का यह चिन्तन प्रवाह है; जिसके कारण आत्मा परमात्मा के द्वारा वरणीय हो जाता है। स्पर्यमाण विषय की अत्यन्त प्रियता के कारण यह स्मृति

प्रवाह भी अत्यन्त प्रिय रूप है। स्नेह पूर्वक किए गये अनवरत ध्यान को भक्ति कहते हैं।[1]

भगवान में तैलधारा सदृश अविच्छिन्न मनोनिवेश ही भक्ति का स्वरूप है। श्री भाष्य में उन्होंने स्थापित किया है कि ध्रुवानुस्मृति ही भक्ति है। 'भक्ति' और 'उपासना' पर्यायवाची हैं।[2] वेदान्तदेशिक का भक्ति स्वरूप निरूपण भी रामानुज की परिभाषा से मिलता जुलता है। उन्होंने भक्ति को प्रीतिरूपा 'धी' कहा है। यहाँ पर 'धी'- शब्द का प्रयोग ब्रह्म विद्या से विरोध प्रतिपादित करने के लिए किया गया है। सामान्यतः प्रीति आदि भाव ज्ञान विशेष ही है, किन्तु महनीय विषय प्रीति (भगवदुनुरक्तिं) भक्ति है। भक्ति के फल में ज्योतिब्होम अग्निहोत्र कर्मो के फलों की भाँति कोई तारतम्य नहीं है। उपनिषद, गीता आदि में जिस भक्ति को ज्ञान का हेतु कहा गया है, वह सामान्या (साधन रूपा) भक्ति है, प्रेम रूपा भक्ति नहीं। रामानुज के दर्शन के अनुयायी रामानन्द ने अपनी भक्ति परिभाषा में भक्ति को जाति और व्यावर्तक धर्मो का नहीं, अपितु उसके साधनों, अवयवों और उपलक्षणों का भी समावेश किया है। श्रेष्ठ महर्षियों के वचनों के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवद् परायण होकर की गई उपाधि निर्मुक्त परमात्मा सेवा-भक्ति है। वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति-सन्तान-रूपा

---

1. गीता पर रामानुजभाष्य, अध्याय 7 की अवतरणिका।
2. ब्रह्मसूत्र 1/1/1 पर रामानुजभाष्य।

है, तैलधारा की भाँति अविच्छिन्न है। विवेक आदि उसकी सात भूमियां और यम आदि आठ अवयव हैं।[1]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य रामानुज और रामानन्द दोनों ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा और भक्ति को साधन और साध्य दोनों माना। इस भक्ति के लिये उपासना पर इतना जोर दिया कि रामानुज ने उपासना को भक्ति का पर्याय बतलाया। भक्ति का सम्यक् विवेचन करने के वाद यही कहा जा सकता है कि दोनों आचार्यो की भक्ति दास्यभाव प्रधान थी, जिसका समर्थन या प्रभाव हमें तुलसीदास में मिलता हैं। अब हम तुलसी के भक्ति विषयक विचारों का विश्लेषण करेगें।

भक्ति का स्वरूप और अर्थ की व्यजंना करने के लिए तुलसी ने अनेक शब्दों का व्यवहार किया है अनुराग, प्रीति, प्रेम, रति–स्नेह आदि।[2] अनुराग, राग, प्रीति, प्रेम[3] आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य लौकिक प्रीति के अर्थ में भी हुआ है। भगवद् विषयक होने पर भी यही भाव भक्ति कहलाता है। यह प्रेम राम के प्रति भी हो सकता है और नाम के प्रति भी। दोनों ही समान है। अतएव तुलसी के नाम प्रेम को भी गौरव दिया है। इस प्रकार उनकी भक्ति प्रेम रूपा है। 'प्रेम भगति', 'भगति प्रेम' या 'भाव भगति' आदि दुहरे शब्दों

---

1. आचार्य रामानन्द : वै0 म0 मा0, गु0 65–66
2. राम चरित मानस, बाल0 104/3
3. राम चरित मानस, अयो0 8/1

का व्यवहार उन्होंने साधन भक्ति की तुलना में साध्य भक्ति के प्रेम स्वरूप को अधिक महत्त्व देने के लिये ही किया है।

तुलसीदास ने भक्ति का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा है कि क्रोध और सांसारिक राग को जीतकर नीतिपथ पर चलने वाले जन की राम के प्रति की गई प्रीति भक्ति है। भक्ति की इस परिभाषा में राग विजय और नीति पालन भक्ति के उपलक्षण मात्र है। रागादि मुक्त चित्त में ही भक्ति का उदय संभव है।

राग से तुलसी का अभिप्राय लौकिक पदार्थो के प्रति चित्त की आसक्ति से है। नीति–पालन भक्ति के उदय का साधक और उदित भक्ति का पोषक होता है। अनीति पथ पर चलने वाले कल्पित भक्ति मार्गो का त्याग भी इसका प्रयोजन है। राम विषयक प्रीति को ही तुलसी ने भक्ति का स्वरूप लक्षण माना है। 'प्रीति' भक्ति की जाति या सामान्य है। यह प्रीति कनक–कामिनी आदि के सम्बन्ध से सांसारिक राग के रूप में भी हो सकती है किन्तु वह भक्ति नहीं कहला सकती है। भक्ति की अधिकारिणी वही प्रीति है जो राम से अनन्य भाव से सम्बद्ध हो और सांसारिक विषयों से रहित हो। इस लक्षण में प्रीति शब्द से तुलसी का वही तात्पर्य है जो शाण्डिल्य का 'परानुरक्ति' से या नारद का 'परम–प्रेम' से। एक अन्य स्थल पर भी तुलसीदास ने कहा है कि विश्वनाथ के चरणों में निश्च्छल स्नेह ही राम भक्त का लक्षण है। इसमें तुलसीदास ने रामभक्ति और शिव भक्ति का समन्वय करते हुए दास्य भाव से निश्चल स्नेह को भक्ति कहा है।

तुलसी के अनुसार ऊपर वर्णित प्रेम में वह शक्ति है कि वह पत्थर से भी परमेश्वर प्राप्त कर लेता है।[1] इस भगवद् प्रेम का आनन्द काव्य के नौ रसों एवम् रसना के छः रसों से कहीं अधिक मधुर है। तुलसी के आराध्य रामानन्द की भाँति सगुण राम ही हैं। तुलसी ने धार्मिक उदारता तथा समन्वय की भावना के कारण निर्गुण राम, सगुण राम, कृष्ण, विष्णु तथा उनके अन्य अवतारों एवम् शिव आदि अन्य देवों को राम का ही रूप मानकर उनके प्रति भी विभिन्न स्थलों पर अपनी भक्ति का निवेदन किया है। स्मार्त वैष्णव होने के कारण तुलसी ने आचार-विचार तथा बहुदेवोपासना पर जोर दिया है किन्तु उन्होंने अन्य देवोपसना की तुलना में राम की उपासना पर ही बल दिया। भगवान राम की अहैतुकी कृपा सभी पर होती है। जो भी उनकी शरण में चला जाता है चाहे धनी हो या गरीब हो चाहे ज्ञानी हो अथवा मूर्ख, बलशाली हो या निर्बल हो, सभी का समान भाव से उद्धार करते हैं। राम की सर्वोपरि दानशीलता भी उनकी श्रेष्ठता का प्रमाण है।[2] निराकार रूप में राम के नाम का महत्त्व निर्गुण संतों को भी मान्य है। अतएव तुलसी की मान्यता है-

को करि कोटिक कामना, पूजै बहुदेव।
तुलसिदास तेहि सेइये, संकर जेहि सेव।
ते मतिमन्द जो राम तजि, भजहि जाई प्रभु आन।[3]

---

1. प्रेम बदों प्रहलादलि को जिन पाहन में परमेश्वर काढ़े।
कवि0 7/127
2. जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पंह लीन्हीं।
सो सम्पदा विभीषन कह अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।
वि0 प0, पद 162/3
3. रामचरित मानस, लंका 3

यद्यपि तुलसीदास के भक्तिमत में वात्सल्य, सख्य आदि भावों का भी महत्त्व है तथापि उनका अभीष्ट भक्ति मार्ग दास्य-भक्ति का ही है। उनका दास शब्द भक्त का ही पर्याय है। उन्होंने अपनी एवम् अपने काव्य में चित्रित भक्तजनों की प्रीति भगवान राम के ही चरणों में अर्पित की है। दूसरों से भी उन्होंने राम के प्रति उसी प्रकार की भक्ति के वरदान की ही याचना की है। इस याचना में चरण, पद आदि शब्दों का व्यवहार काव्य भक्ति का ही सूचक है।

तुलसीदास ने निर्गुण मत की अभेद भक्ति अमान्य नहीं है तथापि उनकी दृष्टि में भेद-भक्ति ही श्रेष्ठ और विशेष मान्य है। जहां वे भेदकारिणी मति के परिहार की बात करते हैं वहां भी उनका साध्य भेद-भक्ति ही है। इन स्थलों पर भेद का तात्पर्य है जीवों का परस्पर भेद, जीव तथा ब्रह्म का स्वरूप भेद और विश्व तथा विश्व रूप भगवान का भेद।

बंगाली वैष्णव की भक्ति विषयक मान्यताओं को भी देखना आवश्यक होगा क्योंकि कृष्ण काव्य इनसे प्रभावित हैं। भक्ति का सर्वाधिक सांगोपांग तथा सूक्ष्म अध्ययन बंगाली वैष्णवों ने प्रस्तुत किया है। रूपगोस्वामी तथा जीव गोस्वामी आदि ने भक्ति रस की पूर्ण स्थापना करके भारतीय रस-शास्त्रियों द्वारा उपेक्षित इस भक्ति-रस को सभी रसों से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। रूप गोस्वामी ने सभी पूर्ववर्ती आचार्यो की भक्ति सम्बन्धी धारणाओं को एक में समेटने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा है कि 'उत्तमा भक्ति' कृष्ण का वह अनुशीलन

है, जो अनुकूलता से युक्त तथा अभिलाषा शून्य और ज्ञान, कर्म आदि से मुक्त हो।[1] 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु' के इस लक्षण में "अन्याभिलाषित शून्यम्" शब्द भागवत, नारद पंचरात्र तथा वल्लभ आदि के द्वारा स्वीकृत अनन्यता का व्यंजक है। भक्ति की इस मान्यता का प्रचार चैतन्य देव के द्वारा हुआ चूँकि चैतन्य देव और उनके शिष्यों की गद्दी कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज में भी थी अतः भक्ति के इस भाव का प्रभाव ब्रज स्थिति आलोच्यकालीन हिन्दी कवियों कृष्ण कवियों पर भी प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः पड़ा।

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ की मान्यता है कि भगवान के महात्म्य ज्ञानपूर्वक उनके प्रति जो सुदृढ़ सर्वाधिक प्रेम होता है उसी को भक्ति कहते हैं। भक्ति ही मुक्ति का एक मात्र साधन है।[2] भक्ति की इस परिभाषा में आचार्य जी ने दो प्रमुख बातों पर जोर दिया है, प्रथम ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और उत्कृष्ट प्रेम, दूसरे ईश्यवर की महत्ता का निरन्तर ज्ञान और ध्यान।

'अणुभाष्य' में आचार्य जी ने जिस भक्ति का वर्णन किया है उसकी प्राप्ति किसी साधन अथवा पुरूषार्थ से नहीं है वह तो भक्ति कहा है जिसका आधार भगवद्-अनुग्रह ही है। 'पुष्टि-प्रवाह मर्यादो' नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है पुष्टमार्गीय जीवों की सृष्टि

---

1. ह० र० सि० 1/1/11

2. महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः।
   स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।।
   तत्वदीप, 1/45

भगवान की स्वरूप सेवा के लिए है।[1] भगवान का प्रेम बिना अविद्या नाश हुए नहीं मिल सकती। अविद्या विद्या द्वारा नष्ट होती है और भक्ति का साधन विद्या है क्योंकि विद्या प्राप्ति के बाद ही मन भगवान के अनुग्रह पर दृढ़ होता है। आचार्य वल्लभ ने संसार के जीवों की तीन श्रेणियाँ निर्धारित किया है। पुष्टमार्गीय जीव, मर्यादामार्गीय जीव और प्रवाह मार्गीय जीव। इन्हीं तीन वर्गो के आधार पर तीन प्रकार की भक्ति भी कही जा सकती है– पुष्टि–पुष्ट भक्ति, मर्यादा पुष्ट भक्ति तथा प्रवाही पुष्ट भक्ति। इसमें आचार्य जी के मत में सर्वश्रेष्ठ भक्त पुष्टि–पुष्ट मार्गीय है। चौथी पुष्ट भक्त लोकातीत है। वल्लभाचार्य का मत है कि भक्त को सर्वभाव धारण कर सेवा तीन प्रकार से करनी चाहिये, तन से, चित्त से तथा मन से। भक्त भगवान को अपना तन समर्पण कर उसके निमित्त ही शरीर का प्रयोग करें। पुत्र, स्त्री, धन, यश आदि जितना भी भक्त का वैभव भगवान को अपना तन समर्पण कर उसके निमित्त ही शरीर का प्रयोग करें। पुत्र, स्त्री, धन, यश आदि जितना भी भक्त का वैभव है, यह सब भगवान और उनके भक्तों की सेवा के निमित्त लगे। इन सेवाओं में मानसिक सेवा सर्वश्रेष्ठ है। “सिद्धान्त मुक्तावली” में कहते हैं सब दुःखों को दूर करने वाले कृष्ण की मानसी सेवा ही करनी चाहिये। यह सेवा ‘परा’ है। भगवान की श्रवणादि भक्ति तथा तनुजा वित्तजा और मनसा सेवा

---

1. पुष्टि प्रवाह मर्यादाषोडश ग्रन्थ आचार्य वल्लभ, श्लोक 12

की महत्ता बतलाते हुए आचार्य जी का कथन है "ईश्वर की सेवा और उनकी तथा उनके भक्तों की चरित कथाओं में दृढ़ विश्वास और आसक्त करने वाले भक्त की काया का नाश नही होता है।[1]

आचार्य वल्लभ ने ईश्वर के भजन और सेवा के अधिकारी भक्तों की भी श्रेणियां बताई है। उनका मत है कि भक्त तीन प्रकार के हैं- उत्तम मध्यम और हीन। भगवान ही सब कुछ है और उन्हीं से सब कुछ प्रकट हुआ है। ऐसा ज्ञान धारण कर जो भगवान की प्रेम से श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति के साधनों द्वारा सेवा करता है, वह भक्ति उत्तम है। जो श्रवण, कीर्तन आदि साधनों द्वारा सेवा तो करता है तथा ईश्वर की सर्वज्ञता तथा सर्वेश होने का भी उसे ज्ञान है परन्तु अभी प्रभु के प्रति उत्कट प्रेम उसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ है, वह भक्त मध्यम अधिकारी है और जो भक्त श्रवणादि साधनों में भगवान की सेवा तो करता है परन्तु उसके हृदय में ईश्वर के महात्म्य का ज्ञान और उसके प्रति प्रेम उदित नहीं हुए वह हीन है। महत्त्व तो इस हीन भक्त का भी है क्योंकि उसके साधन से उसके पापों का नाश तो हो ही जाता है। यहां पर आचार्य जी ने भक्ति की प्रथमावस्था में ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार किया है। आचार्य जी भागवत विषयक प्रेम भक्ति की तीन अवस्थाएं बताई हैं- उनका नाम क्रमशः प्रेम, आसक्ति और व्यसन है। प्रेम स्नेह की अवस्था में सांसारिक विषय वासनाओं के राग का नाश हो जाता है। आसक्ति दशा में गृह के प्रति अरूचि हो जाती है, घर बार मिथ्या एवम् बाधक

---

1. 'भक्त वर्द्धिनी षोडश ग्रन्थ' आचार्य वल्लभ, श्लोक 9

प्रतीत होने लगता है। व्यसन की अवस्था में भक्त पूर्णतः कृतार्थ हो जाता है। प्रेम के उत्कर्ष के लिए ईश्वर से बिछड़ने का ज्ञान उसमें मिलने की अभिलाषा तथा विकलता का होना आवश्यक है इसलिए भक्त अतिशय विरह दुःख की कामना करता है और उसके सामने यशोदानन्द और गोपियों का विरह आदर्शवत् हैं।

सूरदास तथा परमानन्द दास की वर्ताओं को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने उनके शरणागति के समय उन्हें पहले बाल–भाव की भक्ति का ही उपदेश दिया था और उनसे उसी प्रकार के पद गाने के लिए भी कहा था इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य जी को कृष्ण को बाल रूप की वात्सल्य भक्ति ही अभीष्ट थी। वल्लभ सम्प्रदाय में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना का समावेश वल्लभाचार्य के जीवन के अन्तराल में और निश्चित रूप में आचार्य जी के पुत्र एवं शिष्य गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय हुआ। आचार्य जी का विशेष सम्पर्क चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायियों से था इसका प्रमाण भी वल्लभाचार्य की जीवनी 'निजवार्ता' तथा 'वल्लभ दिग्विजय' आदि में ग्रन्थों से मिलता है। इससे सम्भव है कि आचार्य जी को कृष्ण की मधुर भक्ति की प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु से मिली हो। इस प्रकार यद्यपि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश हो। इस प्रकार यद्यपि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश तो आचार्य जी ने अपने सम्प्रदाय में अपने ही जीवन में स्वयं कर लिया किन्तु राधा की अथवायुगल रूप की उपासना का समावेश गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ही

किया। सूरदास आदि भक्तों की रचना में युगल स्वरूप तथा राधा की स्तुति के जो अनेक पद मिलते है वे विट्ठलनाथ के समय के कहे जा सकते हैं गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के राधा-भाव सम्बन्धी विचारों पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु जी तथा हित हरिवंश जी के विचारों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि चैतन्य महाप्रभु तथा हित हरिवंश जी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ-साथ राधा की भक्ति की मान्यता थी। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वकीया है किन्तु गौड़ी सम्प्रदाय में राधा परकीया भाव रूपा है। अतः वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी तथा श्री हरिराय आदि वल्लभ सम्प्रदाय के इन चार आचार्यो ने ब्रह्मसूत्र श्रीमद् भगवद् गीता, महाभारत, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और नारद पांचरात्र आदि भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर तथा तत्कालीन प्रचलित माध्व, गौड़ीय, राधा वल्लभीय तथा हरिदासी आदि कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों से प्रभावित होकर जिस भक्ति का प्रचार किया उसमें भक्ति के सभी व्यापक भाव वात्सल्य, दास्य, संख्यकान्ता तथा नारद भक्ति सूत्र में बताई गई ग्यारह आसक्तियों सभी का समावेश हो गया। वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप के कवियों की भक्ति का जो स्वरूप तथा इस विषय में उनके जो विचार उनकी रचनाओं में मिलते हैं उन पर वल्लभ सम्प्रदाय के मत का ही स्पष्ट प्रभाव है जहां इन कवियों ने अपने उपास्य देव, कृष्ण की लीलाओं का वात्सल्य, सण्य और दास्य तथा कान्ता भाव से वर्णन किया है वहाँ सर्वत्र कृष्ण के ईश्वरतव के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है।

अब तक ऐसे कवियों के ब्रह्म सम्बन्धी विचारों का वर्णन किया गया जो प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध या प्रभावित थे। अतः उन पर तत्सम्बन्धित सम्प्रदाय विशेष की दार्शनिक मान्यताओं का अनुसरण स्वीकार किया जा सकता है किन्तु कुछ ऐसे भी कवि हैं जो सम्प्रदाय विशेष से असम्बद्ध रहकर भी स्वतंत्र रूप से भगवान कृष्ण के साथ ब्रह्म रूप में भावात्मक तादात्म्य स्थापित किया। ऐसे सम्प्रदाय निरपेक्ष कवियों या कवियित्रियों में मीरा बाई का स्थान सर्वोपरि है। मीराबाई ने पर ब्रह्म को सगुण और निर्गुण एक साथ दोनों माना है इन्होंने श्रीकृष्ण को अविनाशी की संज्ञा दी है और बताया है कि भगवान श्रीकृष्ण मेरे हृदय में सदैव निवास करते हैं सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, जल, आकाश का नाम हो जायेगा किन्तु कृष्ण स्थिर रहेगें।[1] मीराबाई भगवान कृष्ण के ऐश्वर्यशाली सगुण रूप पर मुग्ध हैं और उन्हें मोर, मुकुट, कुण्डल, मुरली आदि से सुशोभित साकार रूप में प्राप्त करना चाहती हैं।[2]

---

1. मेरे पिया, मेरे हिय वसत हैं, ना कहुं आती जाती।
   चन्दा जायगा, सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी।
   पवन पाणी दोनु ही जायेगें, अटक रहे अविनाशी।
   मीराबाई की पदावली– स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 8
2. म्हारो प्रणाम बाके बिहारी जी,
   मोर मुगर माथ्यां तिलक विराज्यां, कुण्डल अलकारी जी।
   अधर मधुर धर वंशी बजावां, रीझ रिझावां ब्रज नारी जी।
   या छब दे थां मोहयां मीरा मोहन गिरवर धारी जी।
   मीराबाई की पदावली, स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 8

भगवान कृष्ण के सगुण रूप के अतिरिक्त उनके निर्गुण स्वरूप का कथन भी मीराबाई के पदों में मिलता है। इसका कारण मीराबाई पर निर्गुण सन्त मत का प्रभाव माना जा सकता है। मीरा के प्रियतम की सेज गगन मण्डल पे बिछी रहा करती है।[1] मीरा अपने साहब को 'त्रिकुटी' महल में बने झरोखे से झांकी लगारकर देखने, 'सुन्न महल' में सूरत जमाने वा सुख की सेज बिछाने के लिए आतुर जान पड़ती है।[2] उनका मन सूरत की आसमानी सैलू में रम गया है।[3] वे गुरू ज्ञान द्वारा अपने तन का कपड़ा रंग कर तथा मन की मुद्रा पहनकर 'निरंजन' कहे जाने वाले के ही ध्यान में मग्न रहना चाहती हैं।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीराबाई ने जहाँ एक ओर वैराग्य साधने[5] के लिये उपदेश दिया, उसी पद में भगवान से प्रेम करने के लिए भी कहा है। उनके आराध्य कृष्ण एक ओर नहीं सन्तों के ब्रह्म के निर्विशेष से विभूषित हैं तो दूसरी ओर सगुण ब्रह्म के सविशेष से। किन्तु इन दोनों में मीरा को कृष्ण के सगुण स्वरूप में ही आस्था है, जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है।

---

1. गगन मण्डल पे सेज पियो की किस विधि मिलना होई।
   मीराबाई की पदावली, स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 27
2. सुन्न महल में सुरत जमाऊं सुख की सेज बिछाऊंणी।
   मीराबाई की पदावली, स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 5
3. मीरा मन मानी, सुरत सैल असमानी।
   मीराबाई की पदावली, स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 22
4. जाके नाम निरंजन कहिये तोको ध्यान धरूँगी।
5. हरि हितु से हेतकर, संसार आसा त्याग।
   दास मीरां लाल गिरधर सहज कर वैराग।
   मीराबाई की पदावली, स0 परशुराम चतुर्वेदी, पृ0 26

रामकाव्य के अन्तर्गत प्राणचन्द चौहान, हृदयराम केशवदास आदि कवियों ने भगवान राम को ब्रह्म या उसका अवतार मानकर वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन सोद्देश्य न होकर प्रासंगिक एवम् संकेत मात्र हैं। अग्रदास, नाभादास, मानदास आदि कवियों ने कृष्ण काव्य के प्रभाव से भगवान राम के रसिक स्वरूप को ही ग्रहण किया है किन्तु उपर्युक्त कवियों में से किसी ने भगवान राम के पूर्ण ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा लोक जीवन में नहीं की। इस दुस्तर कार्य को गोस्वामी तुलसी दास ने पूरा किया।

तुलसीदास की दृष्टि में तत्कालीन भक्ति शास्त्रीय ग्रन्थों एवम् भक्ति सम्प्रदायों के मान्य भेद मौजूद और उन सभी मान्य भेदों को ध्यान में रखते हुए तुलसीदास ने समन्वय भावना से सभी भेदों का उल्लेख किया है और इसी कारण तत्कालीन अति प्रसिद्ध नवधा भक्ति की चर्चा उन्होंने रामचरितमानस में की है। किन्तु जब तुलसीदास नौ प्रकार की भक्तियों का वर्णन करते है तब उनकी सूची भागवत की सूची से भिन्न हो जाती है, क्योंकि उस विषय में उन्होंने आध्यात्म रामायण का अनुसरण किया है। आध्यात्म रामायण में राम के मुख से शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश कराया गया है।[1] रामचरितमानस के राम ने भी उसी प्रकार की नवधा भक्ति का उपदेश देते हुए शबरी से कहते है- मैं तुमसे अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ, तु सावधान होकर सुनो और मन में धारण करो। प्रथम है

---

1. अध्यात्म रामायण, अरण्य0 का0 10/22-39

सन्तों का सत्संग, दूसरी है मेरे कथा प्रसंग में प्रेम, तीसरी है अभिमान रहित गुरू चरणों की सेवा, चौथी है कपट रहित गुणों का ज्ञान, पाँचवी है मेरे मन्त्रों का जाप और मुझमें अटल विश्वास। छठी है इन्द्रियों का निग्रह शीतलता व वैराग्य और धर्मरति, सातवीं है सम्पूर्ण जगत को मुझमें समभाव से ओत-प्रोत देखना, आँठवी है, स्वप्न में भी पराये दोषो को न देखना और नवीं है, सरलतापूर्वक सबके साथ छल रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना।[1] यही एक नवधा भक्ति है जिसका अभिव्यक्ति रूप से प्रतिपादन तुलसी दास ने किया है।

श्रीमद् भगवत् में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की बतलायी गयी है- निर्गुणा, सात्विकी, राजसी और तामसी। प्रथम निर्गुणा भक्ति निष्काम है, शेष तीनों भक्ति सकाम। तीनों गुणों से ऊपर उठे हुए साधक की सवान्तर्यामी पुरूषोत्तम में लगी हुई अहैतुकी एवम् गंगा प्रवाह की भाँति अविच्छिन्न चित्त वृत्ति निर्गुण भक्ति है। यह साध्य रूपा निष्काम भक्ति है। पाप-क्षालन के लिये अथवा कर्तव्य बुद्धि से की गई भेद-भाव मुक्त भक्ति सात्विकी है। हर्ष अथवा सत्व गुण की प्रधानता के कारण इसको सात्विकी कहते है। भोग लोलुप यशोभिलाषी ऐश्वार्यार्थी नित्य सकाम हृदय साधक के द्वारा भेद बुद्धि से की गई भक्ति राजसी है। क्रोधी, मत्सरी, हिंसक और दम्भी द्वारा परपीड़न के लिए की गयी भक्ति तामसी है। भागवत के इस वर्गीकरण को वल्लभ सम्प्रदाय में भी स्वीकार किया गया।

---

1. रा0च0मा0, अरण्य का0 35/4, 36/4

वल्लभ सम्प्रदाय के कवि सूरदास ने भागवत को आधार मानकर इन चार प्रकार की भक्ति का विवरण अपनी रचनाओं में दिया है। ये चारों भागवत के ही अनुकरण पर तामसी, राजसी, सात्त्विकी तथा निर्गुण है। प्रथम तीन प्रकार की भक्ति काव्य है और चौथी निर्गुण भक्ति निष्काम है। सूरदास ने इस चौथी भक्ति (निर्गुण भक्ति) को 'सुधा-सार' भक्ति भी कहा है और उक्त चारों भक्ति का श्रीमद् भागवत सम्मत विवेचन करते हुए वर्णन किया है- सात्त्विकी भक्त मुक्ति चाहता है, राजसी भक्त धन और कुटुम्ब चाहता है, तामसी भक्त पर-अपकार 'मेरा बैरी मर जाये' इस भाव से चाहता है। परन्तु सुधा भक्ति का करने वाला भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता है। यह अनन्त भक्त कुछ नहीं मांगता है। उसका न कोई शत्रु होता है न कोई मित्र। इसको संसार की माया का संताप नहीं होता है। यह केवल ईश्वर के दर्शन मात्र से ही परम सुख का अनुभव करता है।[1] इस प्रकार सूरदास ने भागवत के विभाजन का पूर्ण अनुसरण करते हुए भक्तों के भी दो भेद कर दिये हैं- एक सकाम भक्त, दूसरा निष्काम भक्त।

---

1. माता भक्ति चार परकार, सत, रज, तम गुण, सुधा सार।
   भक्ति सात्विकी चाति मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुम्ब अनुरक्ति।
   तमो गुणी चाहे या भाई मम बैरी क्यों ही मर जाई।
   सुधा भक्ति मोक्ष को चाहे, मुक्तिहु को नहिं अवगा है।
   मन क्रम वच मन सेवा करै, मनते भव आशा परिहरै।
   ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारौ, इस दिन जाते रहों न न्यारो।
   भक्त अनन्य कछू नहिं मागै, ताते मोहिं सकुच अति लागै।
   ऐसा भक्त जानहैं जोई, जाके शत्रु मित्र नहिं होई।
   हरि माया सब जग सन्तापें, ताको माया मोहन व्यापै।
   सूरसागर, तृतीय स्कन्धवें प्रे० पृ० 42

भक्ति के साथ कर्म और ज्ञान का योग करते हुए सूर ने तीन तरह के भक्त और कहे हैं- कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त तथा ज्ञान योगी भक्त। सूरदास का कथन है कि कर्मयोगी भक्त वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए भगवद् भक्ति करता है, वह अधर्म कभी नहीं करता और इस आचरण से वह संसार से निस्तार पा जाता है। वे भक्त भक्तियोगी है, जो विधि पूर्वक भगवान का स्मरण उनकी पूजा तथा उनके चरण कमलों में सदा प्रीति करते हैं। ये भक्ति योगी भक्त क्रम-कम करते हुए मुक्ति का लाभ करते हैं।[1] क्रम मुक्ति विधि पूर्वक ज्ञान के साधकों को अथवा ज्ञान भक्ति के उपासकों को ही मिलती है। ऊपर सूर ने इसी क्रम मुक्ति का संकेत किया है। तीसरे भक्त ज्ञानी है, जो सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म जानकर सबसे हित करते है।

तुलसीदास की रचनाओं में उपर्युक्त चारों प्रकार की भक्ति के उदाहरण मिल जाते है, किन्तु तुलसी की किसी भी रचना में कही भी सूर की तरह स्पष्ट निर्गुणा, सात्त्विक, राजसी और तामसी इस प्रकार का चारों विभाजन एक ही स्थल पर सोद्देश्य स्पष्ट नहीं मिलता है। यह अवश्य है कि इन चारों प्रकार की भक्ति के साधक

---

1. भक्त सकामी हूँ जो होई, क्रम-कम करके उधरै सोई।
   शनै शनै विधि पावे जोई ब्रह्मसहु हरि पदहिं समाई।
   निष्काम वैकुण्ठ सिधावै, जन्म-मरन तिहि बहुरि न आवै।
   त्रिविध भक्ति अब कहो सुनु सोई, जाति हरिपद प्रापति होई।
   एक कर्मयोग को करै वर्णन आश्रम धरि निस्तरै।
   अरू अधर्म कबहूँ नहिं करै ते नर याही विधि निस्तरै।
   एक भक्तियोग को करै, हरि सुमिरन पूजा विस्तरै।
   हरि पद पंकज प्रीति लगावै, क्रम-कम करि हरि पदहिं समावै।
   एक ज्ञान योग विस्तरै, ब्रह्म जानि सब सें हित करें।
   सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वे0प्रे0, पृ0 44

भक्तों के उदाहरण अवश्य ही स्फुट रूप से तुलसी की रचनाओं में जगह-जगह मिल जाते हैं। तुलसी साहित्य में भरत और हनुमान जैसे भक्तों की निष्काम भक्ति निर्गुणा अथवा सूर की 'सुधा-सार' भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। क्योंकि ये दोनों भक्त भगवान राम के सेवा बिना किसी फल की कामना से केवल उनकी भक्ति अथवा सेवा के लिए ही करते हैं। इनके सामने मुक्ति तुच्छ है, सांसारिक यश आदि की इन्हें किचिंतमात्र भी इच्छा नहीं है। केवल आराध्य भगवान राम जिस साधन से सन्तुष्ट और प्रसन्न रहें वही साधन इन भक्तों को अभीष्ट है और भगवान राम की प्रसन्नता या भक्ति ही इनका परम काम्य है। अतः ये दोनों भक्त भरत और हनुमान बड़ी सरलता से बिना तर्क-वितर्क के निर्गुण भक्ति की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ऐसे भक्तों को भगवान राम अहैतु की कृपा से हठात् अपनी भक्ति दे देते हैं अथवा भक्ति बरियाई ऐसे भक्तों के पास उनके बिना चाहे भी उनक पास आ जाती है:-

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन कहं राम भगति निज देही।[1]
राम भगति सोई मुकुति गुसाई। अनइच्छित आवइ बरियांई।।[2]

दूसरी भक्ति सात्विक है, जिसके उदाहरण मानस में भरे पड़े हैं। सुतीक्ष्ण की अविरल भक्ति[3], इसी प्रकार शरभंजा, लोमस, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, काग भुशुण्डि तथा गरूण अन्यान्य ऋषियों की

---

1. रामचरितमानस, सुन्दर 138/4
2. रामचरितमानस, उत्तर 203/2
3. राम चरित मानस, अरण्य 15/13

भक्ति सात्त्विक भक्ति का अनुपम आदर्श है। भक्त की दृष्टि से भक्ति का तीसरा विभाजन राजसी भक्ति का है, जिसमें भक्त भगवान की सेवा, धन, राज्य, ऐश्वर्य पुत्रादि सांसारिक वैभव को प्राप्त करने की कामना से करता है चूँकि इस भक्ति में भक्ति का ध्यान भगवान की प्राप्ति की कामना न होकर सांसारिक सुख का वैभव प्राप्त करना होता है। इस प्रकार सांसारिक वैभव साध्य और भगवान की अमूल्य भक्ति उसके प्राप्ति का साधन हुआ। रामचरितमानस में सुग्रीव की भक्ति इसी श्रेणी की भक्ति कही जा सकती हैं क्योंकि सुग्रीव ने भगवान राम की भक्ति अपना राज्य और अपनी स्त्री प्राप्त करने के लिए किया और भगवान राम उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी मनोवांछित फल दिये। इस वर्गीकरण में चौथा और अंतिम भेद तामसी भक्ति का है। यह भक्ति का दुरूपयोग, परपीड़न, परसंहार, शत्रुनाश, परअपकार जैसे हिंसक बर्बर कार्यो के लिये किया जाता है। इस भक्ति का साधक भक्त दम्भी, क्रोधी दुष्ट होता है और उसके भक्ति के साधन भी अमर्यादित अमानवीय एवं हिंसात्मक होते हैं। वास्तव में यह भक्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इस भक्ति का प्रयोजन जीव अकल्याण मानव अकल्याण एवम् आत्म अकल्याण हैं, किन्तु भक्ताचार्यो ने भक्ति को व्यापकता प्रदान करने के लिए समस्त अच्छे बुरे भावों को भक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है और इस प्रकार बुरी कामना एवम् दुष्ट भावना से की गई भगवान की सेवा भी भक्ति के अन्तर्गत मान ली गई है और भगवान को समदर्शी सिद्ध करने के जिस ऐसे दुष्ट भक्त का भी उद्धारक सिद्ध किया गया है। रामचरित

मानस में रावण की शिव भक्ति कही जा सकती है। क्योंकि रावण ने देवताओं को कष्ट पहुँचाने, ऋषियों को दण्ड देने एवम् नरसंहार करने के लिए शंकर जी की तन्मयता से सेवा की थी। शिव की इस सेवा के लिए उसने अपना सर काटकर हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया था, जिसके फलस्वरूप उसे मनोवांछित शक्ति प्राप्त हो गई थी और नरसंहार करके उसने समस्त भूमण्डल पर अपना आतंक फैला दिया था।

सगुण विचारधारा के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, ईश्वर का ऐश्वर्य और उसकी लीला। ईश्वर के ऐश्वर्य से अभिभूत सगुण विचारधारा का साधक उसकी अखंड लीला में अपने को भुला देना चाहता है। उस ईश्वर कावह अनेक प्रकार से विस्तार करता है परन्तु फिर भी उस लीला का, उस आनन्द ऐश्वर्य का कहीं आदि अन्त नहीं प्राप्त कर पाता। अपनी अकिंचनता पर विवश होकर वह विशुद्ध भाव से ईश्वर के ऐश्वर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है। सगुण विचारधारा में सगुण रूप का महत्त्व बताते हुए सबसे अधिक बल इस बात पर है कि क्योंकि निर्गुण रूप की उपासना बहुत कठिन है इसलिए उपासना के हेतु सगुण ईश्वर का आलम्बन भक्त के लिए अत्यधिक कल्याणकारी है।

सगुण विचारधारा में आत्मसमर्पण एवम् दैन्य भावना पर अत्यधिक बल दिया गया है। 'तदर्पिताखिलाचारिता'[1], सबकर्मों को भगवान में अर्पण कर देने की आवश्यकता है। जो भक्त अपने आप तथा

---

1. नारद भक्ति सूत्र, पृ0 25

अपने से सम्बन्धित लौकिक एवं वैदिक सब प्रकार के कर्मो को भगवान में अर्पण कर देता है[1], उसी में वास्तविक समर्पण का भाव है।[2] ''तदर्पिताखिलाचारिता'' का भाव तभी सम्पूर्ण होता है जब काम, क्रोध, अभिमानादि भी ईश्वर के प्रति समर्पित हों।

इस अतीव समर्पण भाव की पुष्टि के लिए गोपियों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। कारण यह है कि ईश्वर को स्पष्ट ही अभिमान से द्वेष है, दैन्य से ही प्रिय भाव है। पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण को वैष्णव आचार्यो ने अपनी शास्त्रीय विवेचना के अन्तर्गत 'प्रपति' की संज्ञा से अभिभूषित किया है। सगुण विचारधारा में भी गुरू का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। गुरू के आधार के फलस्वरूप ही उपासक अपने मार्ग पर उचित दिशा में अग्रसर हो सकता है। गुरू के आधार के अभाव में ब्रह्मा और शिव के सदृश होने पर भी भवनिधि का संतरण करना असम्भव है।[3]

अन्तिम तत्त्व यह कि ईशोपासना के अनेक मार्ग है पूजा, अर्चन, आरती सभी सगुण विचारधारा में स्वीकार है, किन्तु उपासना का सर्वश्रेष्ठ रूप नाम जप है। नाम जप से कलुष कर्मो के फलोद्भूत अन्धकार विलीन हो जाता है। राम का नाम अनन्त सुखों का धाम है। इसकी रक्षा नही करनी पड़ती यह स्वयं विपत्ति में रक्षा करता है।[4]

---

1. नारद भक्ति सूत्र, पृ0 105
2. नारद भक्ति सूत्र, पृ. 111
3. गुरू बिन भवनिधि तरइ न कोई, जो बिरंचि संकर सम होई।
   राम चरित मानस, डा0 माताप्रसाद गुप्त, उत्तरकांड पृ0 540 पंक्ति संख्या 3
4. हमारे निर्धन के धन राम।
   चोर न लेत, घटत नहिं कबहूं, आवत गाढ़े काम।
   जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत, है ऐसो हरिनाम
   वैकुंठ नाथ सकल सुखदाता, सूरदास सुख धाम।।
   सूरसागर, पहला खंड, प्रथम स्कन्द, विनय, पृ0 29 पद सं0 92

(i) आराध्य रूप सगुण ब्रह्मः–

(राम तथा कृष्ण भक्ति काव्य के अन्तर्गत)

कृष्ण काव्यान्तर्गत वल्लभ सम्प्रदाय तथा नन्ददास आदि अष्टछाप कवियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का जो निरूपण आया है, वह बहुत कुछ शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों के अनुकूल है। आचार्य वल्लभ ने अपने ग्रन्थ अणुभाष्य में ब्रह्म का स्वरूप करते हुए बताया है कि ब्रह्म निर्गुण सगुण अर्थात् उभयात्मक है, वह विरूद्ध धर्मो का आश्रय स्थान है। ब्रह्म अविकृत परिणामी है। वह सत्–चिद्–आनन्द तीनों गुणों से पूर्ण है। ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षर, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, व्यापक, अनन्त, बहुगुणों, से युक्त श्रीकृष्ण हैं सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों में ब्रह्म का विवेचन कर उपरोक्त प्रकार से ही हुआ है क्योंकि ये कवि वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

शुद्धाद्वैत के अनुसार जीव और जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। ब्रह्म स्वयं जीव और जगत के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसको आविर्भाव कहते हैं। जब सृष्टि का लय होता है तब इन तत्वों–जीव और जगत का ब्रह्म में लोप हो जाता है जिसे तिरोभाव कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म अंशी और जीव तथा जगत उसके अंश है। सूरदास ने ब्रह्म के अविकृत परिणामवादी स्वरूप का कथन 'जल और बुदबुद' तथा नन्ददास ने 'कनक

कुण्डल' के न्याय से व्यक्त किया है।[1]

(ii) ब्रह्म विरूद्ध धर्मो का आश्रय हैः-

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म समस्त गुणों का आश्रय है, चाहे वे गुण आपस में एक-दूसरे के विरोधी हो, इसको ब्रह्म की धर्माश्रयता का गुण कहते हैं। ब्रह्म के इस गुण को वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वदीप निबन्ध' शास्त्रार्थ प्रकरण में स्पष्ट किया है। इसी के अनुकूल सूरदास परमानन्ददास आदि ने कृष्ण के निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों का एक साथ वर्णन किया है। सूरदास ने ब्रह्म, जीव, जगत, की अद्वैतता स्वीकार की है तथा पर ब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम पर ब्रह्म है वह रस स्वरूप है, अखण्डित है और अनादि अनुपम हैं। सृष्टि के आदि में वही थे।

सूरदास परमानन्ददास आदि अष्ट छाप के कवियों की भाँति नन्ददास ने भी श्रीकृष्ण के पर ब्रह्म होने का भाव व्यक्त किया है। अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में नन्ददास ने पर ब्रह्म कृष्ण के षट्गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्रीज्ञान और वैराग्य) सम्पन्न होना, सभी का आश्रय स्थान होना तथा अवतार धारण करना आदि लक्षणों का विवेचन किया है।

---

1. सूर — ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि ता मांहि संमाही।
त्योंही सब जग कुटुम्ब सुमहिं ते पुनि तुम मांहि बिलाही।।
सूर सागर- पृ0 595

नन्ददास- — एकहि वस्तु अनेक है जगमगात जग धाम।
ज्यों कंचन से किंकनी, कनक कुण्डल नाम।।
नन्ददास पृ0 98

इसी प्रकार का कथन अष्टछाप के अन्य कवियों कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी आदि में भी संकेत रूप में उपलब्ध है। किन्तु दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन अधिकतर सूरदास परमानन्ददास तथा नन्ददास में ही प्राप्त होते हैं। अन्य अष्टछाप के कवियों ने ब्रह्म का रस रूप या आनन्द रूप में ही विवेचन किया है।

दार्शनिक दृष्टि से राधा–कृष्ण के युगल स्वरूप को सर्वप्रथम निम्बार्क सम्प्रदाय द्वारा स्वीकार किया गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी कवि हरिव्यास देव ने कृष्ण को आनन्द स्वरूप माना है और राधा को आह्लादिनी शक्ति। यह दोनों सदैव अभिन्न रहते हैं। स्वामी हरिदास का कथन है कि हम सब पिजड़े में बद्ध पशु के समान है। भगवान की कृपा न हो तो कोई भी काम न चलेगा। उनकी इच्छा के अनुसार सब कुछ होगा।

मीरा ने परब्रह्म को निर्गुण और सगुण एक साथ दोनों माना है। उन्होंने कृष्ण को अविनाशी की संज्ञा दी है और बताया है कि भगवान कृष्ण सदैव मेरे हृदय में निवास करते हैं। सन्तों के निर्गुण ब्रह्म के निर्विशेषत्त्व से विभूषित हैं तो दूसरी ओर सगुण ब्रह्म के सविशेषत्त्व से। किन्तु इन दोनों में मीरा को सगुण स्वरूप में ही विशेष आस्था है।

राम काव्य के अन्तर्गत प्राणचन्द चौहान, हृदय राम केशवदेव आदि कवियों ने भगवान राम को ब्रह्म या उसका अवतार मानकर वर्णन किया है किन्तु यह वर्णन सोद्देश्य न होकर

प्रासंगिक मात्र है। अग्रदास, नाभादास, मानदास आदि कवियों ने कृष्ण काव्य के प्रभाव से भगवान राम के रसिक स्वरूप को ही ग्रहण किया है किन्तु ब्रह्मत्त्व की प्रतिष्ठा लोक जीवन में नही की। इस दुस्तर कार्य को गोस्वामी तुलसीदास जी ने पूरा किया। तुलसीदास जी की रचनाओं में भगवान राम के पूर्ण ब्रह्मत्त्व का विवेचन सोद्देश्य और सांगोपांग प्राप्त होता है।

ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूपों में आचार्य शंकर ने केवल निर्गुण ब्रह्म को और रामानुज तथा वल्लभाचार्य ने केवल सगुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य माना है। तुलसीदास ने इन दोनों ही रूपों को परमार्थतः सत्य माना है और दोनों में अभेद स्थापित किया है। ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है। किन्तु वही निर्गुण ब्रह्म राम के रूप में देह धारण करके अनेक लीलाएं किया। इस प्रकार तुलसीदास ने निर्गुण ब्रह्म और अपने इष्टदेव राम का तादात्म्य स्थापित किया और उनको वेदोक्त ब्रह्म सिद्ध किया है। राम ही परमेश्वर और जगत को प्रकाशित करने वाले हैं। जो ब्रह्म निर्गुण और निरंजन है वही प्रेम भक्ति के कारण राम रूप में कौशल्या की गोद में खेल रहा है। वही निर्गुण भक्तों के लिए साकार होकर अनेक लीलाएं करता है।[1]

उनके अमित गुण हैं, किन्तु ये गुण प्राकृत न होकर अप्राकृत है। वे स्वभावतः करूणामय हैं। उनकी यह करूणा

---

1. व्यापक अकल अनीह, अज निर्गुन, नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप।।
राम चरित मानस, बाल० पृ० 205

अहैतुकी है। वे अवतार धारण करते हैं। उनके अवतार धारण करने का एक मात्र प्रयोजन है भक्त का कल्याण और दुष्टों तथा असुरों का संहार कर, सज्जनों का कष्ट हरण करते हुए ब्राह्मण पृथ्वी और गौ का उद्धार करना। ये तीनों ऐश्वर्य विभूतियों सील, शक्ति और सौन्दर्य से पूर्ण है।

(ग) सगुण तत्त्व :-

(1) अवतारवाद :-

भारतवर्ष में सगुण भक्ति का आधार अवतारवाद है। यह सगुण उपासना का मेरूदण्ड है जिसके सहारे मध्य काल की भक्ति का सुगठित शरीर स्थित है। अवतार की कल्पना भारतवर्ष में कब उद्‌बुद्ध हुई, इस विषय में प्रामाणिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु विद्वानों का मत है कि सम्भवतः यह धारणा वैदिकोत्तर काल में पुष्ट हुई होगी।[1]

पौराणिक साहित्य अवतारवाद का समर्थन पूरी तरह करता है। मध्यकाल में समस्त भारतवर्ष में अवतार वाद के प्रति गहरी आस्था पायी जाती है।

अवतारवाद के प्रयोजन :-

गीता के अनुसार अवतार का प्रयोजन साधु-परित्राण, पापियों का विनाश और धर्म की स्थापना है।

श्रीमद्‌भागवत में भगवान के अवतार के अनेक हेतु बताये गये हैं। गीतोक्त 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च

---

1. मध्य कालीन धर्म साधना, डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 113

दुष्कृताम्' आदि कारणों का समर्थन तो श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर है ही इसके अतिरिक्त भी भगवान के अवतार के निम्नलिखित प्रयोजन बताए गये हैं–

1. केवल लीला विस्तार, [1]
2. देवकार्य सम्पादन, [2]
3. प्राणियों का मोक्ष ज्ञान।[3]
4. भक्तों पर अनुग्रह।[4]
5. भक्तों के प्रति मैत्री निर्वाह।[5]

भक्ति काल में पूर्वोक्त साधुपरित्राण, खलनिग्रह आदि भगवदवतार कारण स्वीकृत ये ही उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हेतु भगवान का भक्तों पर अनुग्रह करके अवतार द्वारा उन्हें अपनी लीला माधुरी का पान कराना माना गया है। अपनी लीला कीर्ति के विस्तार से भक्तों पर अनुग्रह करना भगवान की जन्मादि लीलाओं का उत्तम हेतु है। श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'लघुभागवतामृत' में स्पष्ट कहा है:–

---

1. क्रीडार्यभद्यासमनुष्य विग्रहं नतोस्ति धुर्य यदु वृाष्ण सातवताम्।
   श्रीमद् भागवत, 10/37/23
2. मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
   तदर्थमवतीर्णोडहमंशेन ब्रह्मणार्थितः।।
   वही, 11.7.2 तथा 10, 46, 23,
   10, 38, 13
3. नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये।
   यो धत्ते सर्व भूतानाम भवायोशतीः कला।।।
   श्रीमद्भागवत, 10, 87, 46 तथा
   10, 70,39
4. दित्सयैति सुहृदाशिष एष देव की जठर भूरूडुराजः
   श्रीमद्भागवत 10, 35, 23
5. मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम्।
   श्रीमद्भागवत 10, 69, 17

स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिधृक्षया।

अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरूत्तम।।[1]

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह अभिमत समीचीन लगता है कि परवर्तीकाल में दुष्ट दमन आदि को भगवान के अवतार का मुख्य हेतु नही माना गया है।[2] अवतारवाद की धारणा में तत्त्व को साकार रूप देखा जाता है। लीला भी उसी आधार पर फलती फूलती है।[3]

अवतार की कार्यप्रणालीः–

निर्गुण ब्रह्म अपनी इच्छा से आकार प्रकार में उतरकर जन्म लेता है और उसी आकार प्रकार के अन्दर रहकर कर्म करता है। किन्तु वे उसके अन्दर भागवत चेतना और भागवत शक्ति ले आते हैं। इसी भागवत चेतना और भागवत शक्ति के द्वारा वे शरीर के अन्दर होने वाले प्रकृति के कर्मो का नियमन करते हैं और तद्द्वारा सारी प्रकृति का शासन करते हैं। इस प्रकार अवतार ब्रह्म का कार्य सम्पादन करता है, किन्तु स्वयं अन्तर्यामी होकर।

अवतार अपने भीतर की भागवत उपस्थिति और शक्ति से तादात्म्य अनुभव करता है। अवतार का आकार, उसका रहन–सहन, उसकी कार्य–प्रणाली आदि देखकर उसके निकटतम व्यक्ति भी नहीं समझ सकते कि वह अवतार है।[4]

---

1. मध्यकालीन धर्म साधना, डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 114 पर उद्भूत
2. वही, पृ0 114
3. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, डा0 शरण बिहारी गोस्वामी, पृ0 94
4. सूर सागर में प्रतीक योजना, डा0 लक्षमय्या शेट्टी पृ0 40

महाभारत में दो स्थलों पर अवतारों का वर्णन है। एक स्थान पर छः और दूसरे स्थान पर दस अवतारों का उल्लेख है। वे हैः–

(1) वराह, (2) नृसिंह, (3) वामन, (4) परशुराम, (5) दशरथिराम, (6) वासुदेव कृष्ण, (7) हंस, (8) कूर्म, (9) मत्स्य और कल्कि।

महाभारत के जिस अंश में अंतिम चार अवतारों का उल्लेख है उसे कुछ लोग प्रक्षिप्त अनुमान करते हैं।[1] किन्तु सभी पुराणों में विष्णु के दस अवतारों और उनके चरितों का वर्णन है।

'श्रीमद् भागवत' अवतारवाद तथ्यों के विवेचन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है। क्योंकि समस्त पुराणों में अनेक प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं का अवतारवाद के आधार पर विचार किया गया है। इस पुराण में अवतारवाद का अत्यन्त व्यापक रूप प्रस्तुत करते हुए परमात्मा का समस्त अभिव्यक्ति को उसका अवतरित रूप माना गया है। परमात्मा का आदि रूप 'विराट पुरूष नारायण' है।[2] जो अवतारों का 'अक्षयकोश' है।[3] इस प्रकार भागवत में मुख्यतः सृष्टि से लेकर वैयक्तिक अवतार तक तीन रूप लक्षित होते हैं। उनमें प्रथम उसका पुरूष रूप है। इस रूप में वह सृष्टि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। दूसरा उसका रज, सत्त्व और तम से युक्त त्रिगुणात्मक रूप है जिसमें वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव

---

1. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर सेक्टस, भण्डारकर, पृ0 59
2. श्रीमद्भागवत, 1.3. 3–5, 2.4.9 और 2.6.37
3. वही, 1.2.23

के रूप में कर्त्ता, पालक और संहर्ता है, और तृतीय उसका व्यक्तिगत रूप है जिसमें वह रंजन एवम् रक्षण के निमित्त लीलात्मक रूप धारण करता है।[1]

अवतार के भेदः-

श्रीमद्भागवत में अवतारों के तीन भेद किये गये है।

(i) पुरूषावतार, (ii) गुणावतार, (iii) लीलावतार।

(i) पुरूषावतारः-

भागवत के अध्ययन से विदित होता है कि तत्कालीन युग में अन्य प्रवृत्तियों के साथ कतिपय वैदिक विचारधाराओं को आत्मसात् करने के प्रयत्न होने लगे थे। उनमें देव रूपों का अवतारीकरण अधिक उल्लेखनीय है। भागवत काल में अवतारवाद के सिद्धान्त को भी अधिक व्यापक, वैज्ञानिक और शास्त्रीय बनाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस दृष्टि से 'पुरूष सूक्त' के पुरूष को आधावतार और अवतारों का जनक[2] कहकर पुरूष और अवतारवाद में अभूतपूर्व सम्बन्ध स्थापित किया गया है। परन्तु भागवत की परम्परा को पुष्ट करने वाला सबसे अधिक महत्त्व का उपादान है, उसका सर्वप्रथम जन्म लेना और उसके विराट रूप में अखिल सृष्टि का विकसित होना। सम्भवतः इसी आधार पर भागवत 3, 6, 8 में विराट पुरूष को प्रथम अंश या

---

1. वही, 2.6.45, 2.9.26-27
2. श्रीमद् भागवत, 2.6.41 और 1.3.5

प्रथम जीव और आधावतार माना गया है। सामान्य पुरूष के सदृश सृष्टि के विकास का कारण स्वयं उस प्रथम पुरूष की कामना है, जिसने उपनिषदों में इच्छा का रूप धारण कर लिया है। इस इच्छा के अस्तित्त्व से अवतारवाद के विकास में यथेष्ट सहायता मिली है। क्योंकि पुरूष आधावतार के रूप में केवल सृष्टि की ही इच्छा नहीं करता अपितु व्यक्तिगत रूप से विशेष प्रयोजनवश (रक्षा, संहार इत्यादि) या स्वेच्छा से लीला या रामानन्द के लिए स्वयं आविर्भूत होता है। इस इच्छा ने सृष्टि अवतार के अतिरिक्त व्यक्तिगत अवतार की आधार भूमि प्रस्तुत की जिसके फलस्वरूप सामान्य विष्णु के अवतारों के साथ उपास्यवादी अवतारवाद का भी विकास हुआ। जो ब्रह्म युग–युग में जनहित के लिये अवतरित होता था वह भक्त की भावुक प्रार्थनावश अर्चाविग्रह रूप में भी अवतरित होने के लिये लालायित रहने लगा। कालान्तर में साम्यवादियों ने सृष्टि के उद्भव और विकास में प्रकृति के साथ पुरूष का योग स्वीकार किया। वह चेतन पुरूष के रूप में सर्वप्रथम अन्तर्यामी होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता था।[1]

अतएव 'भागवत' के अनुसार सृष्टि के आदि में भगवान ने लोकों के निर्माण की इच्छा की। इच्छा होते ही उसने महतत्त्व आदि से निष्पक्ष पुरूष रूप ग्रहण किया। उस समय वे षोडश कलाओं से युक्त थे।[2] यही उसके कारण अर्थात् जलशायी

---

1. भारतीय दर्शन पृ0 329
2. श्रीमद् भागवत, 1.3.1

सहस्त्रांगमय विराट रूप और पुरूष नारायण रूप का परिचय दिया गया है, जो अनेक प्रकार के अवतारों का अक्षयकोश तथा लघुत्तम से महानतम प्राणियों की योनि है।[1] यही पुरूष नारायण अन्य स्थलों पर आधावतार बताया गया है।[2] आलोच्य पुरूष के तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। उसमें प्रथम है विश्वातीत, कालातीत या परम रूप से जिसे उपनिषदों में पर पुरूष या परब्रह्म कहा गया है। दूसरा है उसका विश्वमय विराट, विश्यवात्मा, सर्वान्तर्यामी या समष्टि-आत्मा रूप जो अखिल सृष्टि में व्याप्त है और तीसरा है, प्रत्येक प्राणियों का आत्मा या अन्तर्यामी रूप। चैतन्यमतानुयायी रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में 'सात्त्वततन्त्र' के आधार पर गृहीत विष्णु के तीन रूपों को पुरूष रूप माना है। उनमें प्रथम रूप है महत् सृष्टि-प्रकृति-अन्तर्यामी संकर्षण रूप, द्वितीय है चतुर्मुख अन्तर्यामी प्रद्युम्न रूप, तृतीय है सर्व जीवान्तर्यामी अनिरूद्ध।

(ii) गुणावतार :-

सांख्यदर्शन में जिस सृष्टि-विकास क्रम का परिचय दिया गया है उसमें त्रिगुणात्मक अवस्था मानी गई है। जिसमें रज, सत्त्व और तम इन तीन गुणों का अस्तित्त्व रहता है। सांख्यवादियों द्वारा प्रतिपादित सष्टिवाद का प्रचार जब पुराणों में हुआ तब रज, सत्व और तम इन तीनों गुर्णे से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र तीनों प्रमुख पौराणिक त्रिदेवों का सम्बन्ध स्थापित किया गया। किन्तु सांख्य दर्शन में रजसत्त्व और तम का ब्रह्म, विष्णु और रुद्र

---

1. वही, 1.3.2-5।
2. वही, 2.6.41 और 3.6.8।

से कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है बल्कि इन त्रिदेवों का विकास प्राचीन वाड.मय में स्वतन्त्र रूप से हुआ है। वैदिक बहुदेवतावाद के मध्य में तीन मुख्य देवताओं का उल्लेख निरूक्त में हुआ है। यास्क ने अग्नि, वायु (इन्द्र) और सूर्य को क्रमशः पृथ्वी-स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय तीन प्रमुख देवों को माना है।[1] भट्टाचार्य ने वैदिक एवं पौराणिक देवताओं के अध्ययन क्रम में अग्नि, वायु और सूर्य को क्रमशः ब्रह्मा, शिव और विष्णु से समन्वित किया है।[2] पुराणों में इनके रूपों और कार्यों को ब्रह्मा, शिव और विष्णु पर आरोपित किया जाने लगा था। साथ ही ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र देवों के विशिष्ट व्यक्तित्त्व का पर्याप्त विकास हो चुका था वे अपने नाम और सम्प्रदाय से सम्बन्धित पुराणों में श्रेष्ठ घोषित किये गए थे।

'विष्णुपुराण' के अनुसार तीनों पौराणिक देव सृष्टि के आरम्भ में रज, सत्त्व और तम इन तीन गुणों से सम्बन्ध किये गए तथा सृष्टि, पालन और संहार का दायित्व इन पर दिया गया।[3] जहाँ तक गुणावतार का सम्बन्ध है इस वर्ग में तीनों रूपों को भगवतकार ने ग्रहण किया है।[4] सात्वततंत्र में रजांश, तमांश और सात्त्वांश से क्रमशः ब्रह्मा शिव और विष्णु आदि गुणावतारों को विष्णु का गुणावतार बताया गया है।[5] गुणावतार का सर्वाधिक सम्बन्ध

---

1. यास्क निरूक्त 7, अध्याय 2.1.5
2. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, एस0/ओ0 कपिल देव पाण्डेय पृ 325
3. विष्णु पुराण, 1.2.61-64
4. श्रीमद् भागवद, 11.4.5
5. शात्वत तंत्र, पृ0 4 पटल 1, 41-42

सृष्टि कार्य से है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणों के त्रिगुणात्मक सृष्टि से सम्बन्ध ब्रह्मा, विष्णु और शिव वैष्णव पुराण एवम् मध्यकालीन वैष्णव परम्परा गुणावतार के रूप में गृहीत हुए।

(iii) लीलावतारः-

लीलावतार की कल्पना में ही युगलवाद को प्रश्रय मिला है। इसके दो वर्ग हैं - (1) स्वरूपावतार (2) आवेशावतार। इनमें आवेश के स्वांशवेश और शम्त्यांशावेश दो भेद कहे गये हैं। किसी जीवन के व्यवधान के बिना अपने अंश से प्राकृत विग्रह रूप में आविर्भूत होने को स्वांशवेशातार कहते हैं जैसे- नर-नारायण आदि रूप। किसी जीव विशेष में अपनी शक्ति के कुछ अंश को प्रकट कर किसी अभीष्ठ कार्य के सिद्धकर्ता अवतार को शकल्यांशावतार कहा गया है जैसे कपिल, त्रृषभ, चतुःसनकादि, नारद, व्यास, प्रभृति।[1] विभिन्न मतों के प्रवर्तक, दार्शनिक तथा चिन्तक जो भगवत 11-4 में कलावतार माने गये हैं, संभवतः उन्हीं को यहाँ शक्त्यांशवतार बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त शक्ति के तारतम्य या अन्तर से शक्त्यांशवतार के प्रभाव और विभव दो भेद होते हैं। इनमें धन्वन्तरि और परशुराम आदि प्रभव और कपलि, ऋषभ, प्रभृति विभव संज्ञक हैं।

---

1. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृ0 48

दूसरा अवतार भेद स्वरूपावतार माना गया है सत् चित् और आनन्दात्मक स्वरूप से प्रकट होने वाले रूप को स्वरूपावतार कहा गया है। दीप से प्रज्ज्वलित दीप के समान श्रीकृष्ण से प्रकट होने वाले स्वरूपावतार भी स्वरूप गुण और शक्ति के समान है। फिर भी इसके पूर्ण और अंश भेद बतलाये गये हैं, क्योंकि संभवतः कार्य एवं प्रभाव के अनुरूप स्वरूपावतार पूर्ण होने पर भी अल्पगुण, शक्ति आदि प्रकट करने के कारण अंशावतार कहा जाता है। मत्स्य, वराह, वामन, हयग्रीव, हंस, प्रभृति अवतारों को अंशावतार तथा राम और कृष्ण को पूर्णावतारों में माना गया है।[1]

अवतार के विविध रूप :-

मध्यकाल में परम्परा से ही विकसित होते हुए अवतारवाद के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। इनमें अंश, कला, विभूति, आवेश, व्यूह, लीला युगलरूप उल्लेखनीय है। इस युग में सामान्यतः जिस अवतारवाद की अभिव्यक्ति हुई है वह प्राचीन एवम् पूर्ववर्ती साहित्य का ही किंचित परिवर्तित एवं तत्कालीन प्रभवों से संवलित रूप है। अंश, कला विभूति आदि शब्दों का मध्यकालीन कवियों द्वारा जहां प्रयोग हुआ है, वहां पारिभाषिक रूपों में प्रयुक्त होने के कारण वे अपने विकसित रूप तथा पूर्व परम्परा का सम्पूर्ण रहस्य अपने में ही अन्तर्निहित रखते हैं। अतः मध्यकालीन कवियों में इनकी विशेष चर्चा न होते हुए भी इनके क्रमशः विकास और साम्प्रदायिक रूपों का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि पदों

---

1. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृ0 48-49

में इनका प्रयोग प्रायः अभिघात्मक न होकर रूढ़ि के रूप में हुआ है। इस काल के कवियों ने विभिन्न प्रसंगों में इन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। नन्ददास ने कृष्णावतार की चर्चा करते हुए कहा है कि यदुकुल में ईश्वर अनेक अंश, कला और विभूति के साथ अवतरित हुए।[1]

'वैष्णव धर्म रत्नाकर' में 'विशष्ट संहिता' के आधार कहा गया है कि जिस राम (उपास्य) के अनन्त अवतार हैं, उनमें कोई कलावतार है, कोई अंशावतार है, कोई विभूति अवतार है और कोई आवेश अवतार है। ध्रुवदास ने वृन्दावन की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि श्रीकृष्ण के अंश कला आदि में जितने प्रकार के अवतार हैं सभी वृन्दावन का सेवन करते है।[2]

इसमें अंश, कला आदि रूपों का प्रयोग विशेष अर्थ में या पारिभाषिक प्रतीत होता है, जिसका प्रांसगिक प्रयोग उक्त कवियों ने अपने पूर्ण उपास्यों की तुलना में किया है। इस दृष्टि में इन रूपों का पृथक विवेचन किया जाता है।

अंशावतार :-

अवतारवाद के यथोचित विकास के मूल में सर्वप्रथम अंशावतार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। दार्शनिक विचारकों की दृष्टि से परब्रह्म का असीम रूप ससीम रूप में गृहीत होने पर पूर्ण

---

1. तिहि कुल में ईश्वर अवतरे, अंश, कला विभूति करि मरे।
   नन्दलाल ग्रन्थावली, भाषा दशम् स्कन्ध पृ0 199
2. अंश कला अवतार जेते सेवत हैं ताहि।
   ऐसे वृन्दावपिन को मन बचके अवगाहि।।
   ध्रुव ग्रन्थ, वृन्दावन शतक, पृ0 5

की अपेक्षा अंश विदित होता है। क्यांकि ईश्वर व्यक्तिमात्र के रूप में ससीम हो सकता है असीम नहीं।[1] संभवतः इसी से आचार्य शंकर ने भी गीताभाष्य में श्रीकृष्ण को अंशावतार ही स्वीकार किया।[2] ईश्वर के एक देशीय या अंश–स्वरूपा होने की भावना 'पुरुष सूक्त' के 'पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्य मृतं दिवि' में भी लक्षित होती है।[3] छान्दोग्य में पुनः इसका विकास क्रमशः वैश्वावर, तैजस, प्राज्ञ और अद्वैतपादों में माना गया है।[4] 'विष्णु पुराण' में सृष्टि, पालन और संहार से सम्बद्ध, ब्रह्मा, मारीच, काल और प्राणी, विष्णु, मनु, काल, सर्वभूतात्मा, रूद्र, अग्नि, अखिलभूत को चार चार अंशो में विभक्त बतलाया गया है।[5] इस प्रकार परमात्मा के विषय में जो कुछ भी ज्ञात है वह ज्ञेय रूप इसका केवल अंश मात्र है। 'केनोपानिषद' में ब्रह्म के इस अल्परूपात्मक ज्ञान का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त मनुष्य आदि सभी प्राणियों का जीवात्मा, परमात्मा का अंश माना जाता रहा है।

किन्तु अंशावतार की सर्वाधिक व्याप्ति बहुदेववादी अवतारवादी में मिलती है। जहाँ परमात्मा के साथ देवता, दैत्य आदि सभी का सामूहिक अवतरण होता है। रामायण (वाल्मिकि) एवम् महाभारत दोनों प्राचीन महाकाव्यों में सामूहिक अंशावतरण की यह

---

1. दी क्रिटिकल एग्जामिनेशन आफ फिलोसोफी आफ रेलिज्म जी0 2, पृ0 894–95
2. गी0शं0मा0 पृ0 14 'अंशेन कृष्णः किल साम्वभूव'
3. ऋ0 10, 90, 3
4. छा0 2. 12. 6
5. वि0 पु0 1.22.24–29

भावना विशिष्ट गुणों और रूपों से युक्त वैदिक देवों के व्यक्तिगत या चरित्रगत रूपों में प्रचलित होने के कारण विदित होती है।

कलावतार :–

भारतीय साहित्य में 'कला' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में होता रहा है। किन्तु अवतारवादी साहित्य में यह शब्द अंश के ही विशिष्ट भावात्मक बोध का सूचक रहा है। प्राचीन साहित्य में अग्नि की दस, सूर्य की द्वादस और चन्द्रमा की सोलह कलाओं का प्रचार हुआ किन्तु इनका सीधा सम्बन्ध अवतार वाद से न होकर संभवतः ज्योति ऊष्णता या अन्य गुणों और रूपात्मक परिवर्तन से रहा है। पर कला के ये पर्याय प्रारम्भ में ब्रह्म, पुरूष या ईश्वर के आंशिक रूपों की अनभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। कालान्तर में अवतारवादी उपास्य पुरूष या अवतारी विष्णु के विविध अवतार रूपों के लिये भी इनका प्रयोग किया गया। भागवत 1–3 में विभिन्न अवतारों का वर्णन करने के उपरान्त ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपत्र आदि सभी महान् एवम् शक्तिमान व्यक्तियों को हरि की कलायें कहा गया है।[1] पुनः अगले श्लोक में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों को अंश या कलावतार माना गया है।[2] भागवत के एकादश स्कन्ध में हंस, दत्तात्रेय, सनत्कुमार, वृषभ, आदि अंशावतार रूप में प्रसिद्ध प्राचीन प्रवर्तकों को कला से सम्बद्ध करते हुए कहा गया है कि भगवान विष्णु

---

1. श्रीमद् भागवत, 1.3.27 'कलाः सर्वे हरेरेव'
2. एते चांशकला पुंसः, वही, 1.3.28

ने अपने स्वरूप में एक रस स्थित रहते हुए भी समस्त जगत के कल्याण के लिये बहुत से कलावतार ग्रहण किये हैं।[1]

इससे कलावतार की रूपरेखा बहुत कछ स्पष्ट हो जाती है, किन्तु भागवत 10.1.24 में शेषनाग को कलावतार और 11.2.8 में अंशावतार बतलाया गया है।[2] इससे विशेषकर कलावतार अंश का ही एक विशिष्ट रूप विदित होता है। क्योंकि 'विष्णु पुराण' में पृथु और कपिल केवल अंशावतार कहे गये हैं, वे ही 'भागवत' में विष्णु की विभिन्न कलाओं के अवतार माने गये हैं 'भागवत' के अनुसार पृथु भुवन-पालनी कला[3] और कपिल ज्ञान कलावतार हैं।[4] इसके अतिरिक्त 'भागवत' के विभिन्न स्थलों पर पौराणिक राजा गय, और नामिपुत्र वृषभ भी कलावतार माने गये हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि भागवत काल में अंशावतारों के साथ कला-रूपों या कला शक्तियों का व्यवहार होने लगा था। 'शतपथ ब्राह्मंण' में प्रायः कला और षोडश कला का प्रयोग हुआ है।[6] सामान्यतः वहाँ प्रजापति और पुरूष को षोडशकला से सम्बन्धित किया गया है।[7] जिसकी परम्परा उपनिषदों में लक्षित होती है। इस प्रकार अवतारवादी कला-रूप का प्रारम्भ

---

1. वही, 11-4. 27
2. पृथु, वि0पु0 1.13.45 कपिल, वि0पु0 4-4-12
3. "एष विष्णोर्भगवतः कला भुवन पालिनी", भागवत, 4.15.3
4. ज्ञानकलावतीर्णम्, भागवत, 5, 14.19
5. वही, 5, 15, 6 और 5, 3.18
6. शतपथब्राह्मण, 10.4.1.6.10.1.17.10.41.18, 12.8.3.13
7. वही, 14.4.3.22.11.1.7.36

अंशावतार के पर्याय रूप में हुआ, किन्तु मध्यकालीन युग तक उसका रूप पृथक नही हुआ अपितु उस वर्ग में उन कलात्मक शक्तियों का भी आर्विभाव हुआ, जिसके समावेश से कलारूप का अपना पृथक महत्व हो गया।

विभूति :-

ईश्वर के साकार रूप और अवतारवादी रूप में महान अन्तर सर्वाभिव्यक्ति और विशिष्टाभिव्यक्ति की दृष्टि से किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि सर्वेश्वरवादी मान्यताओं के अनुसार परमेश्वर सभी जड़ चेतन में समान रूप और मात्रा में विद्यमान है। फिर भी व्यक्ति परमात्मा का विश्वास रखने वाले भावुक मनुष्य के लिय उसमें ऐसे विशिष्ट पदार्थ या प्राणी भी है। जो उसके धर्म को विशेष रूप से प्रभावित करते रहे हैं। फलतः ज्ञान की दृष्टि से जो ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, अतः ईश्वर के विशिष्ट अस्तित्व के कारण कालान्तर में विभूतिवाद को अवतारवाद में समाहित किया गया। मध्य युग में अंश और कला के साथ विभूति को भी अवतारों का एक विशिष्ट भेद माना गया। यह सम्भवतः 'गीता' के दसवें अध्याय के विभूतिवाद का प्रचलित रूप था। 'गीता' के अनुसार अनन्त विभूतियों केवल शुभ विभूतियों का वर्णन है।[1] शंकराचार्य ने 'गीता' 10/7 में 'एतां विभूति योगं च' की व्याख्या करते

---

1. गीता, 10/19

हुए उसे योगेश्वर्य–जनित सर्वज्ञता आदि सामर्थ्य माना है।[1] रामानुज ने विभूति को ऐश्वर्य का पर्याय बतलाया है।[2] आनन्दगिरि ने विभूति योग को विविध भूतों में अविर्भूत वैभव माना है।[3] इस प्रकार विभूतियों के विकास में ऐश्वर्य आदिगुणों का सहयोग विदित होता है। विभूतिवाद की यह प्रवृत्ति 'गीता' से प्राचीन नहीं मिलती यद्यपि 'पुरूष सूक्त' के ग्यारहवें और बाहरवें–तेरहवें मन्त्रों में कतिपय कार्यो के निमित्त विभिन्न शक्तियों से उत्पन्न चतुर्वण, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, आकाश तथा अन्य लोंकों में विभूतिवाद के बीज का अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि 'गीता' में भी सर्वात्म रूप में कर्ता की स्थिति बतलाने के बाद विष्णु, सूर्य, मरीचि, चन्द्रमा, सामदेव, इन्द्र, मनु, शंकर कुबेर, पावक, सुमेरू, बृहस्पति, स्कन्द, सागर, मृग, एकाक्षर, जपयज, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल, ऐरावत, राजा, बज्र, कामधेनु, कामदेव, वासुकी, अनन्तनाग, बरूण, अर्यमा, यम, प्रहलाद, काल, मृगेन्द्र, गरूड़, पवन, राम, मगर, गंगा, वासुदेव, अर्जन, व्यास, उशान कवि आदि अनेक वर्गो के प्रधानों को विभूति–रूप में समाविष्ट किया गया है। विष्णु पुराण में इसका सैद्धान्तिक दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए शासन एवं लोकपालन प्रवृत्त सभी भूताधिपतियों को विष्णु की विभूति माना

---

1. योगेश्वर्य सामर्थ्य सर्वज्ञत्वं जोगजं-- योग उच्यते। गीता, 10/7, शांकरमाष्य।
2. 'विभूतिः ऐश्वर्यम एतां सर्वस्यम दायत्तोत्पत्ति प्रवृत्ति रूपां विभूति मम हेय प्रत्य नीक कल्याण गुणरूपम्। गीता, 10/7, रामानुज भाष्य।
3. विविध भूतिरमावनां वैभवं सर्वात्मा–रत्नम्। 'राधाकृष्णन पृ0 258 में उद्धत।

गया है। उपर्युक्त तथ्यों तथा विवेचनों के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतीय धर्म एवं अवतारवाद में विभूतिवाद, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद तथा विश्वरूपवाद को सदृश एक पारिभाषिक महत्व का सिद्धान्त है।

आवेशावतार :-

अवतारवाद का क्षेत्र व्यापक होने के अनन्तर अंश, कला, विभूति के अतिरिक्त अवतारों का वर्गीकरण आवेशावतार के रूप में लक्षित होता है। अंश, कला आदि रूपों की तुलना में प्रारम्भिक वैष्णव पुराणों में आवेश रूप का अभाव है। यों तो विष्णु पुराण में अंशावतार भागवतपुराण में कलावतार और परवर्ती पद्मपुराण में आवेशावतार का अस्तित्त्व अधिक मिलता है। किन्तु सामान्यतः अन्य पुराणों में अंश एवम् कला की अपेक्षा आवेश का व्यापक रूप दृष्टिगत नही होता। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि पुराणेत्तर साहित्य से आवेश रूप गृहीत हुआ। दीपिका के अनुसार– आविवेश का 'प्रविशति' से किया गया है।[1] अतः आवेश या आविवेश का 'प्रविशति' या प्रवेश से सम्बन्ध विदित होता है। श्री वल्लभाचार्य ने तै0 आ0 3, 14 का उद्धरण 'एको देवः बहुदा निवष्टः' देते हुए प्रवेश से ही उसका तात्पर्य लिया है।

---

1. 'महादेवो महान्देवः स्वप्रकाश आत्मा मर्त्य मरण धर्माणं देहमा विवेश। महा0 मा0 उ0 10/1 दीपिका पृ0 16 'लिडर्थेलेट्। पा0 3.4.7 प्रविशति।

व्यूह रूप :–

मध्य युग में श्रीकृष्ण, संकषर्ण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध के व्यूहवादी रूप का उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही इसके अनुकरण में अन्य विभिन्न प्रकार के चतुव्यूह रूप भी दृष्टिगत होते हैं। किन्तु व्यूहवाद का प्राचीनतम् रूप वासुदेव–व्यूह का ही मिलता है।[1] महाभारत में श्रीकृष्ण के चार रूपों का या उपर्युक्त व्यूह–रूपों का कतिपय स्थलों पर उल्लेख हुआ है, पर 'गीता' में इसकी कोई रूपरेखा नहीं मिलती। नारायणीयोपाख्यान' के 351वें अध्याय में कहा गया है कि भगवान अनिरूद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव चार भागों में विभक्त हैं।[2] इसके पूर्व के पर्वो में ईश्वर की चार मूर्तियों का उल्लेख है किन्तु व्यूहबद्ध नामों से उनका कोई सम्बन्ध नही बतलाया गया है।[3] 'नारायणीयोपाख्यान' में ही पुनः एक स्थान पर सांख्य समन्वित रूपों में व्यूहवाद का पुनः उल्लेख हुआ है।[4] जिसका साख्यबद्धरूप कुछ विस्तार के साथ 'भागवत' में दिखायी पड़ता है।[5] विष्णु पराण में सृष्टि, पालन और संहार से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु और शिव की चार–चार अंशो में स्थिति बतलाई गयी है। पर वासुदेव व्यूह से उनका कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया गया है।[6] भागवत के अनुसार नौ वर्षो में नारायण सदैव

---

1. व्यूह वाद के विकास की दृष्टि से ऋग्वेद, 10, 90, 2–4, अर्थवेद 10,10,29 तैत्तिरीय आण्यक 3.12.2,- छान्दोग्य उपनिषद, 4,5–9, 2वे0ए0 2.16.1 ज्ञातव्य हैं।
2. महाभारत,10, 351.22
3. वही, 7–29, 25–29
4. वही, 12, 12, 349, 25, 36,39
5. भागवत 3,26, 26–30
6. विष्णुपुराण 1.22.23–29

व्यूह रूप में उपस्थित रहते हैं।[1]

लीलावतार :-

मध्ययुग में अवतारवाद के जिन रूपों का सर्वाधिक प्रचार, उनमें लीलावतार महत्वपूर्ण स्थान है। लीलात्मक रूप अवतारवाद का प्राचीनतम् या प्रारम्भिक रूप नहीं है, क्योंकि प्रारम्भ के अवतारों में लीला या क्रीड़ाजनित कोई प्रयोजन नहीं था। विष्णु के वैदिक, महाकाव्य और पौराणिक तीनों साहित्य में उनके अवतार के निमित्त, देव शत्रुओं का विनाश, वैदिक धर्म की रक्षा[2], साधुओं का परित्राण, दुष्ट दमन एवम् धर्म स्थापना[3] तथा वेद, ब्राह्मण, गौ, पृथ्वी और भक्त की रक्षा आदि विविध प्रयोजन माने जाते रहे हैं। कालान्तर में विष्णु अपने एकेश्वर एवं उपास्य-रूप में वेदान्ती ब्रह्म से स्वरूपित किए गये। जिसका फल यह हुआ कि उनके व्यक्त से सम्बद्ध किसी प्रकार का प्रयोजन उनकी निरपेक्षता में दोष समझा गया। उसका निराकरण उनकी बालवत् क्रीड़ा या लीला में किया गया।[4]

---

1. भागवत, 55.17, 15।
2. ऋट0 1, 22, 29 'इन्द्रस्य युज्यः सरवा', ए0ब्रा0 6,5 और श0 ब्रा0 1,2,5 वामन रूप में देवों का पक्षपात, महा0 2,37,15 देवशत्रु विनाश।
3. महा0 1,65,3,12,346,35-37, भूभार हरण, गीता, 4, 6-8, महा0 14, 54,33, हरि0पु0 44, 14, 15 मानव कल्याण।
4. व्यक्तं विष्णुस्तया व्यक्तं पुरुषः काल एव च।
   क्रीडतो बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय।।
   विष्णु पुराण 1, 2, 18

उपनिषदों में जिस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ था, वहां एक ओर तो निर्गुण निष्क्रिय और निराकार था और दूसरी ओर सगुण सक्रिय, साकार और स्रष्टा भी।[1] भारतीय दर्शन में जगत और जीव से उसके सम्बन्धों को लेकर विभिन्न प्रकार के तर्क उपस्थित किए गये थे। नैयायिकों के निमित्तकारण, वैशेषिकों के उपादान कारण तथा सांख्य द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के कर्तव्य में ये सभी ब्रह्म के ब्रह्मत्त्व में कोई न कोई दोष उपस्थित करने के कारण आलोचना के विषय बन चुके थे।[2] ब्रह्म में किसी प्रकार का प्रयोजन उसके पूर्णत्व में बाधा माना जाने लगा था।[3] दूसरी ओर वैदिक साहित्य में ब्रह्म से सम्बद्ध कामना इच्छा आदि शब्द, उनमें किसी न किसी प्रयोजन की ओर संकेत करते थे,[4] तथा कामना और इच्छा के अतिरिक्त उसमें निहित आनन्द क्रीड़ा आदि उपादानों की अभिव्यक्ति भी हुई थी।

अतः वेदान्तिकों ने उपर्युक्त तथ्यों का सामंजस्य 'लीला' में खोज निकाला, क्योंकि आनन्द, क्रीड़ा आदि में लीला का भाव होने पर प्रयोजन आवश्यक नही था। जिस प्रकार नर्तक या नट

---

1. बृ0उ0 3,88, निर्गुण, छा0उ0 3,14, 1-4 सगुण
2. भारतीय दर्शन, पृ 269, 298 और 341
3. बृ0सू0 2,1,32 न प्रयोजनवत्वात्
4.(क) कामना, ऋ 10, 129,4
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत
श0 ब्रा0 13, 61,1
'पुरूषोह नारायणोडकामयते' तै0 उ0 2,6 सोडकामयत् ब0सू01.1.18
(ख) 'इच्छा' छा0उ0 6,2,3 तदैक्षत बहुस्यो प्रजायेय, प्र0उ0 5,5 परात्परं पुरिशयं पुरूषमीक्षते। ऐ0उ0 1.1.1 स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति, ब0सू0 1.3.13 ईक्षति कर्मव्यपदेशात्

आनन्द के निमित्त अनेक प्रकार की लीलाएं करते हैं तथा बालक अपनी इच्छानुसार विविध प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म भी नट्वत या बालवत् लीलाएं करता है। शंकराचार्य ने शारीरिक माष्य में 'लोक लीलावत्तुकैवल्यम्' की व्याख्या करते हुए संतुष्ट राजा या मंत्री के सदृश पूर्णकाम ब्रह्म की लीलाओं को भी निष्प्रयोजन केवल लीला या मनोंरजंन के निमित्त बतलाया है।[1] उपनिषदों में व्याप्त ब्रह्म की इच्छा और कामना काविकास सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा), युयुत्सा (युद्ध की इच्छा), और रिरंसा (आस्वादन की इच्छा) वृत्ति में लक्षित होता है। इन तीनों वृत्तियों का सम्बन्ध लीलात्मक अवतारवाद से स्थापित किया गया है। विशेषकर 'भागवतपुराण' में वैदिक एवं पौराणिक परम्पराओं को परस्पर समन्वित करने का अभूतपूर्व प्रयास हुआ है। इस समन्वय का प्रमुख आधार लीलात्मक अवतारवाद रहा है। यों तो विष्णु पुराण में देव, तिर्यक मनुष्य आदि योनियों में उनकी उत्पत्ति को ब्रह्म की स्वाधीन चेष्टा की उपलक्षिका लीला कहा गया है :-

देवतिर्यङ् मनुष्येषु शरीरग्रहणात्मिका।
लीला या सर्वभूतस्य तव चेष्टोपलक्षणा।।[2]

किन्तु 'भागवत पुराण' में लीला पुरूषोत्तम श्री कृष्ण को 'पर ब्रह्म' अभिहित कर सृष्टिगत, जीवनगत एवं वैयक्तिक सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों को लीलात्मक रूप प्रदान किया गया।

---

1. शारीरिक भाष्य : ब्र0 सू0 2.1.33
2. वि0 पुराण 5, 33. 42

'भागवत पुराण' के प्रथम स्कन्ध में श्रीकृष्ण के प्रति कहा गया है कि ये लीला से अवतार धारण करते है।[1] उनकी यह लीला कपट मानुषी या नटवत् होती है।[2] सृष्टि, पालन, संहार और पशु–पक्षी आदि विभिन्न योंनियों में होने वाले उनके सभी अवतार लीला के ही रूप हैं।[3] फलतः पौराणिक परम्परा या मध्यकाल में प्रचलित विष्णु के चौबीस अवतार भी, जो विष्णु के प्रधान अवतारों में माने जाते हैं, भागवत में उन्हें लीलावतार कहा गया है।[4]

---

1. भागवत, 1.1.17
2. भागवत, 1.1.18 और 1.3.37
3. भागवत, 1.3.38, 1.2.34
4. भागवत, 2.7 और 2.6.45

ग (2) नामः-

नाम-स्मरण भक्ति का एक प्रधान लक्षण और साधन है। कवि ने प्रत्येक स्कन्ध के आरम्भ में तथा प्रायः भिन्न-भिन्न लीलाओं के आरम्भ में 'हरि हरि हरि हरि' सुमिरन करने का आदेश दिया है तथा बार बार नाम स्मरण की महिमा गाई है।

हरि नाम- स्मरण के बिना सांसारिक विषयों में फँसकर मनुष्य योगी के कपि की तरह नाचता है। चौपड़ के खेल के रूपक में कवि कहता है कि राम-नाम के बिना मनुष्य ने बाजी हारी है। गीध, अजामिल, गणिका, श्वपच, ब्राह्मण, गज, प्रहलाद के उदाहरण देकर वह (कवि) कहता है कि हरि को गाने से कौन नही उबरा? हरि ने गणिका को इसलिये तार दिया की कीर पढ़ाती हुई हरि-नाम लेती थी। व्याध ने भी नाम के बल पर परमपद पाया। हरि का 'तीक्ष्ण नाम- कुठार जन्म जन्म के अध-भार काटने में समर्थ है। वेद पुराण, भागवत, सबके मत का सार यही है।

''राम-नाम के अंक अद्भुत हैं। ये धर्म-अंकुर के दो पावन दल हैं, मुक्ति-वधू के ताटंक हैं, मुनि-मन रूपी हंस के दो पंख हैं, जिनके बल से वह आधा उड़ जाता है, जन्म मरण के बंधन काटने के लिए बहु-विख्यात तीक्ष्ण-कर्तरि हैं, अज्ञान-अंधकार को मेटने के लिए रवि-शशि के युगल प्रकाश हैं, जो दिन रात अनायास ही 'महा कुमग' को प्रकाशित करते रहते हैं। हमारे राम निर्धन के धन हैं। हरिनाम ऐसा है कि उसे चोर नही ले सकता,

वह कभी घटता नहीं, और गाढ़े समय काम आता है, वह जल में डूबता नही, अग्नि उसे जला नही सकती। सूरदास के सुख के धाम वैकुंठनाथ सकल सुखों के दाता हैं। हरिनाम को भक्ति के साधनों में सर्वोपरि बताया गया है। "पतितपावन जानकर मैं शरण में आया हूँ। संसार रूपी उदधि से तरने के लिए शुभ नाम की नौका है।" यह कहकर कवि पुनः व्याध, गीध, गणिका, अजामिल, गौतम-पत्नी, गज, प्रहलाद, बलि, ध्रुव, पांडव और द्रौपदी के उदाहरण देता है जिनका उद्धार केवल नाम लेने मात्र से हो गया। जिन्होंने धर्म विमुख आचरण करके जन्म गँवा दिया ऐसे लोगों को केवल नाम का ही भरोसा है।[1]

भगवान तो भक्त वत्सल हैं ही, उनका नाम भी भक्त वत्सल हैः "प्रभु तुम्हारा नाम भक्त वत्सल है। जल संकट से गज की रक्षा कर ली और ग्वालों के हित गोवर्धन धारण किया। द्रुपद-'सुता ने जब हरि को टेर कर पुकारा कि मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नही, दुश्शासन तन 'उघारा' कर रहा है, तो उसका महादुख मिट गया। अपने नाम की लाज कीजिए। जरासंघ सा असुर आपने संहारा, अंबरीष के शाप का निवारण किया और दुर्वासा के लिए चक्र संभाला। दास बिदुर के यहाँ भोजन किया तथा दुर्योधन का गर्व मिटाया। पर सूरज कूर को जो संतत दीन और महा अपराधी है, क्यों विसार दिया? प्रभु, वह तेरा नाम कह रहा है, वनमाली भगवान, उसका उद्धार करो।"[2]

---

1. सूरसागर, पद 155
2. सूरसागर, पद 172

राम नाम की शक्ति इतनी महती है कि धर्माचरणहीन मनुष्यों को केवल इसी का सहारा है। इतना महिमाशली होते हुए भी यह अत्यन्त सुलभ है। राम नाम की शक्ति अपार है, उससे केवल यह जन्म ही नही, वरन् आगामी जीवन भी सुधर जाता है। इसीलिये कवि हरिनाम स्मरण के लिए प्रेरणा देता है, "रे मन, हरि, हरि, हरि सुमिर। नाम के समान सैकड़ो जज्ञ नही हैं, यह प्रतीति कर, कर, कर। हरिनाकुस ने हरिनाम विसार दिया और'बरि बरि' उठा, जिसने प्रहलाद के हित उस असुर को मारा, उससे डर, डर, डर। गज, गीध व्याध, गणिका के अध 'गिरि गिरि' गए। चरन-अंबुज के रस को बुद्धि भाजन में भर-भर ले। हरि द्रौपदी की लाज बचाने के लिए दौड़ पड़े। प्रभु चार फल के दानी हैं वे 'फरि' रहे हैं। सूर श्री गोपाल को हृदय में धर।[1]

कलियुग में राम नाम के साधन का विशेष महत्त्व है, क्योंकि अन्य वेद-विदित धर्म कर्म अब संभव नही हैं। हरि नाम का आधार है। इस कलिकाल में और विधि त्यौहार नही रहा। नारदादि, शुकादि मुनियों ने मिलकर बहुत विचार किया, सकल श्रुतियों के दधि को मथकर इतना ही धृत-सार पाया। जिस तरह जल मीन को रोकता है, उसी तरह दसों दिशाओं के कर्म को रोककर सूर हरि का सुजस गाता है। जिससे कि भव भार मिट जाय श्रुति-स्मृति सभी का मत

---

1. सूरसागर पद 306

यही है कि हरि समान दूसरा कोई नही। उसी के स्मरण से सुख होता है, उसी से मुक्ति मिलती है। इसीलिए सौ बातों की एक ही बात है, दिन–रात हरि हरि सुमिरो। रसना वही जो हरि के गुन गाए आदि कहकर कवि समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति को कृष्णाभिमुख करने का उपदेश देता है और कहता है कि इन सबका आधार राम नाम ही है। ''जब से रसना ने राम कहा है, तब से मानो सब धर्म के साथ बैठ गए हैं। पढ़ने में क्या रहा? यह नाम ज्ञान गुरू से प्रकट हुआ प्रताप है, मानो दधि को मथ कर धृत से लिया और मही को छोड़ दिया। यह सार का सार, सकल सुख का सुख है। यही जानकर हनुमान और शिव ने उसे ग्रहण किया। जिस जन को नाम की प्रतीति हो गई, उसी ने आनन्द का लाभ किया और दुःख को दूर जला दिया। माया के प्रकरण कहा ही गया है कि विषय माया रूपी भुजंगिनि का विष कृष्ण नाम के सुमंत्र से ही उतरता है। वही जियावन मूरी मन जन को मृत्यु से बचाती है। अजामिलोद्धार में सोदाहरण राम नाम की महत्ता प्रदर्शित की गई है और बताया गया है कि उजामिल को धोखे में नारायण नाम उच्चारण के कारण यम के दूतों से मुक्ति मिल गई। कवि ने इसका औचित्य सिद्ध करने के लिये तर्क उपस्थित किए हैं। राम नाम के विषय में हरि के दूतों के द्वारा कवि कहलाता है कि किसी भी प्रकार से कोई हरिनाम क्यों न उच्चरण करे, वह निश्चय ही तर जाता है। जिसके गृह मेंभी हरिजन जाकर नाम–कीर्तन करें और वह स्वयं चाहे नाम न भी लें, तो भी हरि उसे निज–पद देते है। कोई

कैसा भी पापी क्यों न हो राम-राम के उच्चारण से उस पर यम के दूतों का अधिकार नहीं रहता। राम नाम वो चमत्कार से अजामिल को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने पुत्र-कलत्र का त्याग करके हरिपद में ध्यान लगाया और तत्काल वैकुंठ चला गया। जो अंतकाल के समय नाम उच्चारण करता है, वह समस्त पापों को जला देता है। उसे तुरन्त ज्ञान-वैराग्य पैदा हो जाता है औरवह विष्णु-पद प्राप्त करता है। प्रहलाद की कथा तो राम नाम की महिमा का ज्वलंत उदाहरण है। प्रहलाद समस्त विधाओं को छोड़कर केवल राम नाम दिन रात रटा करता था। उसके पिता ने उससे पूछा कि तुमने क्या पढ़ा तो वह उत्तर देता है कि 'जो चारो वेद का सार है, पुनः जो छहो शास्त्रों का सार है, जो सब पुराणों का सार है वही राम नाम मैंने विचार कर पढ़ा है इस पर उसके पिता ने उसे अनेको प्रकार का दण्ड दिया, पर प्रहलाद ने राम नाम नही छोड़ा और वह समस्त विपत्तियों को सफलता पूर्वक पार कर गया। हिरण्यकश्यप ने समझा कि वह कुछ जंत्र मंत्र जानता है पर पूछने पर प्रहलाद ने कहा, "मेरे पास केवल हरिनाम का जंत्र मंत्र है, जिसका घर घर में विश्राम है, जहाँ तहाँ वही सहायता करता है। इसी से तेरा कुछ बस नही चलता। इसी हरिनाम में अटल विश्वास के बल पर प्रहलाद ने खम्भ से हरि को प्रकट करा दिया।

कृष्णावतार के वर्णन में कवि कृष्ण के रूप और उनकी विविध लीलाओं में तल्लीन हो जाता है। परन्तु फिर भी नाम की महत्ता की वह उपेक्षा नही करता और कृष्ण लीला वर्णन में भी

वह नाम स्मरण की महिमा बताता चलता है। गोपियों पर कृष्ण की रूप माधुरी का ही नही, नाम का भी मोहक, प्रभाव पड़ता है। गोपी कहती है "माई री, जब से कृष्ण नाम सुना है, तब से भवन को भूल गयी और बावरी सी हो गई हूँ, नैन भर भर आते हैं चित्त में चैन नही रहता, बैंनो की भी सुधि भूल गई और मन की समस्त दशा और ही हो गई है।

अंत में कवि पुनः कलियुग में हरिनाम स्मरण का एक मात्र साधन घोषित करता है, "सतयुग में सत्य से, त्रेता में यज्ञ करने से, द्वापर मन से पूजा करने से पार उतरते हैं, कलियुग में एक बड़ा उपकार है कि जो हरि कहे वही पार उतरे। कलि में लोग नित्य पाप करते हैं, कहाँ तक कहा जाय, पापों का अंत ही नही होता, पर हरि हरि कहते ही पाप चला जाता है। कलि में जो राम राम कहेगा, वह निश्चय ही भव-जल तर जाएगा। कलि में राम नाम आधार है।

ग- (3) रूप :-

राम चरित वर्णन में कवि ने राम के रूप के कतिपय वर्णन किए हैं, जिनसे उनके प्रति प्रेम में तल्लीनता होती है। चारों भ्राताओं की शर-क्रीड़ा का चित्र खीचते हुए कवि कहता है कि वह सुख तीनों लोक मेंभी नही है जो प्रभु के पास प्राप्त होता है। "धनुहीं-वान कर में लिए हुए डोलते हैं। चारों वीर एक साथ शोभित होने और मनोहर वचन बोलते हैं। लछिमन, भरत, शत्रुधन और सुन्दर राजीव लोचन राम अत्यन्त सुकुमार और परम पुरूषार्थी

तथा मुक्ति-धर्म धन के धाम हैं। कटि तट में पीत पिछौरी बाँधे हुए और सीस पर काकपच्छ धरे हुए हैं। शर-क्रीड़ा के दिन नारद और तैंतीस कोटि देवता देखने आते है। सिव-मन में संकोच है, इन्द्र के मन में आनन्द है तथा विधि को सुख-दुख समान है। सूर, शर-संधान देखकर दिति अति दुर्बल है, अदिति हृष्ट-चित्त है।"[1]

राम के रूप के साथ ही उनकी लीलाएं भी भक्तों के ध्यान के विषय हैं। बाललीला, केवट-प्रसंग, राम विलाप गृद्ध और शबरी के प्रसंग लक्ष्मण शक्ति तथा राम रावण युद्ध के प्रसंग ऐसे हैं जो भक्तो के हृदय से आकर्षित तथा उन्हें भक्ति भाव में तल्लीन करते हैं।

कवि ने आरम्भ में रूप का ध्यान करने के लिए जो उपदेश दिया है, राम और कृष्ण के चरित वर्णन में उसकी उतनी आवश्कता नही रही। राम का रूप और उनकी लीला में सहज सम्मोहन है। राम से कहीं अधिक आकर्षण कवि ने कृष्ण-रूप और कृष्ण-लीला में प्रदर्शित किया है। उनके रूप और गुणों के प्रति आसक्ति का होना स्वाभाविक ही नही, अनिवार्य है।

कृष्ण लीला कवि के काव्य का मुख्य विषय है। और दशम स्कन्ध-पूर्वार्ध में उसने कृष्ण के बाल और किशोर रूप के अनेक ऐसे चित्र दिए हैं जो भक्तों के ध्यान के विषय हैं तथा कृष्ण की विविध लीलाओं इष्टदेव में भक्त की तन्मयता के सुलभ और स्वाभाविक साधन है जिनमें इन्द्रियों की वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती है।

---

1. सूरदास, जीवन और काव्य का अध्ययन, लेखक डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० 237

गोपी यशोदानन्दन के रूप में आकर्षित होकर इतनी तन्मय हो जाती है कि उसे यह भी ध्यान नही रहता कि मैं उनमें हूँ या वे मुझमें हैं- तरू में जीव है या जीव में तरू, या दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। वह लोक की लाज और कुल की कानि तथा पति और पुरूजन को भी त्याग देती हैं तथा उन्हें अन्य रस खारे लगने लगते हैं। अपढ़ गँवार ग्वालिनियों के लिए आत्म ज्ञान और पूर्ण विरक्ति की स्थिति कृष्ण की अनुरक्त जनक रूप माधुरी द्वारा ही संभव है।

सूरसागर में सूरदास ने वात्सल्य रस के समस्त तत्वों से युक्त अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं नन्द के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का एक चित्र देखिये-

बलि गई बाल रूप मुरारि।
पाई पैंजनि रटति रून-झुन, नचावति नंद जारि।
कबहुं हरि को लाई अंगुरी, चलत सिखवति ग्वारि।
कबहुं हृदय लगाई हित करि, लेति अंचल डारि।
कबहू हरि को चितै चूमति, कबहुं गावति गारि।
कबहुं लै पाछै दुरावति, ह्यां नहीं वनवारि।
कबहू अंग भूषन बनावति, राई-लोन उतारि।
सुर सुर नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि।।[1]

कृष्ण के रूप पर माँ बाप, गोपी ग्वाल सभी मुग्ध हैं। आत्म भाव के कारण माँ-बाप को अपना शिशु अति प्रिय होता है। बाल लीला से माता-पिता को परम सुख मिलता है तथा बालक की शरीर क्षमता का विकास होता है।

---

1. सूरसागर, दसमस्कन्ध, पद संख्या 736

ग- (4) लीला :-

स्त्री (सं0 ली (लय) + क्विप, ली√ला (आदान) + क+टाप्) के योग से लीला शब्द व्युत्पन्न होता है। ली का अर्थ है- जोड़ना, मिलाना, पाना या लीन होना, ला का अर्थ है देना लेना। अतः उसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है लीन होने को अंगीकार करना। साहित्य शास्त्र में लीला एक हाव है विलास, विष्वोक, विभ्रमः (उ पु) ललितम् (न), हेला, लीला (स्त्री) ये 6 स्त्रियों के श्रृंगार भाव अर्थात् रत्यादि और मनोविकार से उत्पन्न क्रिया विशेष है, उनका 'हाव' (पु) हाव यह 1 नाम है।

स्त्रीणां विलास विष्वोक विभ्रमा ललितं तथा।
हेला लीलेत्ययी हावाः क्रियाः श्रृंगार भावजाः।।[1]

यौवन काल में स्त्रियों के शरीरज, प्रत्यनज और स्वाभावज वर्गो में विभक्त बीस अंलकार माने गए हैं। दस स्वभावज अलंकारों में से लीला भी एक अलंकार है। नायिका का अपने मधुर अंगों की चेष्टाओं द्वारा प्रिय (नाटक) के वाग्वेष- चेष्टादि का श्रृंगारिक अनुकरण करना लीला कहलाता है।[2] आचार्यो ने लीला के तीन भेद माने है :-[3]

---

1. अमरकोश, अमर सिंह, प्रथम संस्करण 2026
2. अंगैवेर्षैरत्नंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि।
   प्रीति प्रायोजितैं लीला प्रियस्यानुकृतिं विदु।। साहित्य दर्पण
3. हिन्दी साहित्य कोश, डा0 धीरेन्द्र वर्मा।

(1) **स्वगता–** उपर्युक्त परिभाषा स्वगता लीला की है।

(2) **सखीगता–** जब नायिका सखी से नायक के प्रेमालाप, वेषभूषा तथा चेष्टादि का अनुकरण करवाती है।

(3) **स्वप्रियता–** जब नायिका नायक से अपने रूप और चेष्टादि का अनुकरण करवाती है और स्वयं भी नायक के वचन, वस्त्राभूषण, रूप और क्रियाओं का अनुकरण करती है।

लीला बारह मात्राओं का एक प्रकार का छंद भी है। जिसके अंत में एक जगण होता है। एक प्रकार का वर्णवृत जिसके प्रत्येक चरण में भगण, नगण और एक गुरू होता है।[1] चौबीस मात्राओं का एक प्रकार का छंद जिसमें 7+7+7+3 के विराम से चौबीस मात्राएं और अंत में सगण होता है। विशेषक नामक छंद का दूसरा नाम होता है। सामान्यतः लीला के अन्य अर्थ भी द्रष्टव्य हैं– क्रीड़ा, खेल, मनोरंज, सौन्दर्य इत्यादि।

क्रमशः दर्शन क्षेत्र में गृहीत होने पर 'लीला' शब्द की सूक्ष्म व्याख्याएं होने लगी। दार्शनिक क्षेत्रों में माना जाता है कि लीला ऐसी वृत्ति या व्यापार है जिसका आनन्द प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई अभिप्राय या उद्देश्य नहीं होता। इसलिए कहते हैं– सृष्टि और प्रलय सब ईश्वर की लीला है। अवतार धारण करने पर लोक में आकर भगवान जो कृत्य करते हैं उन सबकी गिनती भक्ति मार्ग में लीलाओं में होती हैं। प्रभु अवतरण में कौन सा स्वरूप धारण

---

1. मानक हिन्दी कोश– चौथा खण्ड (फ–ल)– रामचन्द्र वर्मा पृ0 585

करेगें, यह स्वरूप कब ग्रहण करेगें, इस स्वरूप द्वारा कौन सा आचरण कर डालेगें यह सब उनकी अपनी स्वेच्छा से ही सम्बद्ध है। कभी–कभी भक्तजन अपने प्रेम, स्नेह आत्म पीड़ा द्वारा उसे कुछ विशिष्ट आचरण की प्रेरणा देते हैं और फिर वह अपने आचरणों से उनके मन्तव्यों की पूर्ति के लिए अवतरित होकर आचरण करता है। आचार्यो ने इसी कारण लीला को दो भागों में विभक्त किया है।

(i) अहैतुकी लीला
(ii) हैतुकी लीला

अहैतुकी लीला :–

प्रभु की लीला किन हेतुओं के लिए होती है इसका कोई कारण नहीं होता। वह ब्रह्म के स्वभाव की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है यह सहज एवं स्वयं अभिव्यक्ति स्वरूप है। एक पुष्प क्यों खिल उठता है और अपनी गंध को पृथ्वी पर बिखेर डालता है, उसका कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। इस प्रकार वह ब्रह्म स्वेच्छा मात्र विलासेच्छा से प्रेरित अपने को लोक में व्यक्त करता है और अपनी आनन्ददायिनी ऐश्वर्य शक्ति को लोक भर में फैलाता है।

हैतुकी लीला :–

यह लीला सकारण होती है इसके हेतुओं की चर्चा अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित है। राम चरित मानस में इस अवतरण के हेतु की चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि–

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तन माया गुन गोपार।।[1]

---

1. श्रीराम चरित मानस, लोक भारती टीका प्रो0 योगेन्द्र प्रताप सिह पृ0 29

मूलतः ब्राह्मण, गौ, देवता, सन्त एवं पृथ्वी यही सृष्टि के महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं। भारतीय संस्कृति में इन्हे उदात्त एवम् परम शुभ का प्रतीक माना गया है। इनका विनाश समग्र शुभ का विनाश है और शुभ के विनाश के बाद वह ब्रह्म की प्रतीति का विषय नहीं रह पाएगा।

अहैतुकी लीला को आचार्यो द्वारा पाँच आसक्तियों से सम्बद्ध किया गया है–

(1) शान्त, (2) दास्य, (3) वात्सल्य, (4) सख्य, (5) श्रृंगार

अहैतुकी लीला के दो भेद है :–

(1) लोक और भक्त के लिए अनुग्रह स्वरूप

(2) लोक रक्षण स्वरूप

यह लीला मूलतः अपने स्वभाव के कारण दो रूपों में प्रकट होती है उसके स्वभाव का मूल धर्म प्रच्छन्न रूप होना है।

इस प्रकार अवतरण हेतु है और लीला उसका परिणाम। सामान्यतया ब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में अवतरण के विभिन्न क्रम दिखाई पड़ते हैं–

1. अवतरण के पूर्व ब्रह्म
2. अवतरण के बाद अवतरित रूप ब्रह्म
3. अवतरित रूप में रूप, गुण, क्रिया एवम् स्वभाव द्वारा उस अवतरित स्वरूप की व्यंजना।
4. भक्त को इस अवतरित रूप की प्रतीति
5. ब्रह्म ज्ञान एवम् लोक भाव इन दोनों को एक साथ मिलाकर देखना।

अवतरण के पाँचों सन्दर्भ लीला भाव के सन्दर्भ हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अवतरण या अवतार हेतु है और लीला इस हेतु से उत्पन्न कारण।

राम चरित मानस की समग्र लीला का विश्लेषण करें तो वह तीन रूपों में दिखाई पड़ती है–

(i) यशमयी लीला

(ii) ऐश्वर्यमयी लीला

(iii) श्री लीला

(i) यशमयी लीला :–

इस लीला का सम्बन्ध राक्षसवध तथ धर्म की स्थापना से सम्बद्ध है। धर्म की स्थापना का अर्थ है– वेद, ब्राह्मण, पृथ्वी, देवता, गो एवम् सन्तों की रक्षा। यश लीला विनाश के लिए न होकर जीव पर अनुग्रह के लिये है। प्रभु का क्रोध भी अनुग्रह है। वैर भी अनुग्रह है। राक्षसों का वध भी अनुग्रह है।

(ii) ऐश्वर्यमयी लीला :–

यह लीला महाविभूति के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए आचरण है। इस लीला का मन्तव्य ब्रह्म का अपनी विभूति का ज्ञान कराना है।

(iii) श्रीलीला :–

यह लीला अवतरित की लोकरागात्मक लीला है। मानव जीवन को वैयक्तिक तथा सामाजिक वासनाएं अपने कोड में समेटे रहती है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवम् कान्तासक्ति की

वासनाएं यहाँ मूल रूप में हैं। तुलसी मानस में शान्त, दास्य एवं वात्सलय विषयक श्री लीला को महत्व देते हैं।

लीला के भेदः—

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के रसिक आचार्यो ने गुण, प्रकाश और तत्त्व को दृष्टि में रखते हुए भगवान की लीला के छः भेद माने हैं। गुणों के विचार से उसके दो भेद हैं— निर्गुण लीला और सगुण लीला। निर्गुण लीला अनन्त और नित्य है। गोलोक, श्वेतदीप अथवा साकेत में वह नित्य सूक्ष्म रूप में चलती रहती है।

निर्गुणायस्तु लीलाया यद्यप्यन्तो न विधते।
आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना।[1]

भगवान भक्तों पर दया करके जब कभी पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तब उनकी सगुण लीला का प्राकट्य होता है। यद्यपि उनकी दोनों लीलाओं के स्वरूपों में भेद नहीं होता, फिर भी इस दूसरी सगुण लीला का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। यह लीला वद्ध और मुमुक्षु लोगों के उद्धार के लिये होती है। इसी प्रकार लीला के प्रकट और अप्रकट दो प्रकशगत भेद हैं। प्रगट लीला सगुण लीला का ही दूसरा नाम है। इसे प्रपंचगोचर लीला की भी संज्ञा दी गयी है। जब यह लीला सांसारिक दृष्टि से अगोचर हो जाती है। तब अप्रकट कही जाती है।[2] अप्रकट लीला दो प्रकार की होती है—

---

1. वृहद ब्रह्म संहिता, पृ0 66-67।
2. प्रपंचगोचरत्वेन सा लीला प्रगटास्मृता।
   अन्यास्तुडप्रगताभान्तितादृश्य गोचराः।।
   लघुभागवतामूल।

(1) मंत्रोपासनामयी, (2) स्वारसकीय।

मंत्रोपासनामयी में मंत्रों द्वारा लीला का गान किया जाता है, यह विशेष काल और विशेष स्थान की सीमा में बंधी हुई है और मंत्रोपदिष्ट स्वरूप, धाम, परिकर से लक्षित होती है। स्वारसकीय न तो मंत्र से और न ध्यान से गोचर है, बल्कि भगवत्कृपा से इसका दर्शन होता है। अप्रकट लीला का स्वारसकीय स्वरूप भगवान के एक किसी विशेष कार्य में ही सीमित नही है, इच्छानुसार, अवसरानुकूल भिन्न-भिन्न कार्यो में लक्षित होती है। भगवान की लीलाओं का गान करते-करते मनुष्य ऐसे अनुभूत सुख का अनुभव करता है, जो इस पार्थिव लोक में प्राप्य नहीं है, इस अवस्था में लीला को 'स्वारसकीय' कहते हैं।

तत्त्व की दृष्टि से भी उसे दो भागों में विभक्त किया गया है- तात्त्विकी और अतात्त्विकी। इसमें तात्त्विकी लीला नित्या और चैतन्य शक्ति स्वरूपा है। उसका क्षेत्र नित्यधाम गोलोक अथवा साकेत अतात्त्विकी लीला माया शक्ति की कार्यरूपा है। इसी के द्वारा भगवान असुरों की बुद्धि भ्रमित करते हैं। साधारण सांसारिक लोग भी इसका रहस्य नहीं जा पाते। लीला के उपर्युक्त छः भेद वास्तव में भगवान की प्राकृत और अप्राकृत लीला के विभिन्न नाम हैं।

लीला रसिक -महापुरूष लीला के तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत वेदान्त मन में- (1) पारमार्थिक, (2)व्यावहारिक तथा (3) प्रातिमासिक भेद से सत्य का तीन रूप

माना जाता है। बौद्ध विज्ञानवाद के मत से स्वभाव का परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित ये तीन भेद कहा गया है। ठीक उसी प्रकार लीलातत्त्वविद् मनीषियों ने भी लीला के विषय में अनुरूप सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। 'आलमन्दारसंहिता' के षष्ठ अध्याय में लिखा है कि लीला भी वास्तविक, व्यवहारिक तथा प्रातिभासिक भेद से तीन प्रकार की होती है वास्तविक लीला का अभिनय अक्षरब्रह्म के हृदय में होता है। अक्षरब्रह्म का हृदय स्थान कैसा है? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह स्थान कोटि ब्रह्माण्डों से परे है। केवल इतना ही नही, वह ब्रह्माण्डातीत महाशून्य से भी विलक्षण है। वह असीम और अनन्त है। वहाँ की भूमि, आकाश, जल, तेज सभी स्वप्रकाश से ही उद्भासित है, उसे 'आनन्दपदस्थान' कहते हैं। नित्य साकेत अथवा नित्य वृन्दावन में जो लीला होती है वह प्रतिभासिक है। अयोध्या अथवा ब्रजभूमि में कला विशेष में जो लीला होती है, वह व्यावहारिक है।[1] वैष्णव में लीला के कई दृष्टियों से किये हुए भेद-प्रभेद मिलेंगे। वैष्णवों में कुंज और निकुंज शब्द भी बहुधा प्रयुक्त होते हैं। इनके आधार पर दो प्रकार की लीलाएं भी होती है। (1) कुंजलीला और (2) निकुंजलीला। वैष्णवरस-साहित्य में कुंज ऐसे स्थल विशेष को कहते हैं जहाँ प्रिय और प्रिया क्रीड़ा किया

---

1. अक्षर ब्रह्म हृदये वास्तवीं बिद्धि श्याङ्.करि।।
   नित्यवृन्दावने या च सा स्मृता प्रातिभासिकी।
   ब्रजमूल्यां च या लीला स्मृता व्यावहारिकी।।
   पुराण सहिता, पृ0 262, आलमन्दार संहिता पृ0 4-5।

करते हैं।[1] जहां भक्त और भगवान का मिलन होता है इसको पाश्चात्य रहस्यवादी (ओरिजन आफ युनियन) मिलन–आराधन कहते हैं, और नायक–नायिका भेद वाले आलंकारिक संकेत स्थल' कहते हैं। क्रीड़ा का अवसान ही 'कुंजभंग' कहा गया है वस्तुतः कुंज भक्त का हृदय मंदिर है, जहाँ पर भगवान की उपासना में भक्त विभोर है।

1. कुंज लीला :–

जिस लीला में कृष्ण ही उपास्य है, इष्ट हैं, और भक्त गोपी भाव से उनकी लीलाओं का गान करता है। इसमें विप्रलम्भ श्रृंगार की मुख्यता होती है।

2. निकुंज लीला :–

जिसमें अत्यन्त गूहृय गोप्य, एवं रहस्यमय लीला हो रही है निकुंज में केवल ईश्वर ही पुरूष है और राधा ही स्त्री, अन्य स्त्रिया उनकी सखियाँ हैं।

अतः लीला नित्य, सत्य और शाश्वत है भगवान की लीला पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। लीला के शाश्वत होने का अर्थ यह है कि यह काल के समान अबाधित है; उसका न आदि है, न मध्य और न अन्त। अप्रगट लीला भी उन्हीं घटनाओं से जानी जाती है जिनसे प्रगट लीला। प्रगट लीला भी भगवान के विग्रह के समान कालावच्छिन्न है किन्तु भगवान की स्वरूप शक्ति की इच्छा से इसमें आदि भी है और अन्त भी,

---

1. रात्रिदिन कुंज क्रीड़ा करे राधा संगे।
 चैतन्य चरितावली।

भौतिक और अभौतिक पदार्थो का मिश्रण भी, और कृष्ण के जन्म और मृत्यु के समान घटनाएं भी दिखलाई जाती हैं।

ग– (5) धाम :–

निराकार निर्गुण रूप में भगवान सर्वत्र व्याप्त हैं। उनका न अपना कोई नाम है, न स्वरूप है, न धाम है। परन्तु सगुण–साकार परमात्मा के स्वरूप के साथ उसके धाम की भावना भी नितान्त आवश्यक है। धाम की वह अधिष्ठान है, आधार है, जहाँ लीलाएं सम्पन्न होती हैं तथा जो उपासक का परम प्राप्तव्य स्थल होता है। दिव्य स्वरूप भगवान का धाम भी दिव्य है।[1]

भारतीय उपासना में जितने भी भगवत्स्वरूपों की मान्यता है, उनके साथ उतने ही धामों की भी मान्यता है। जिस प्रकार विशिष्ट देवताओं के अपने लोक है उसी प्रकार से भगवद्धाम हैं।

वैष्णवों के उपास्य विष्णु वैदिककालीन देवता हैं। वेदों में उसके धाम को परमपद कहा गया है। इसे ही विष्णुपद भी कहते हैं। ऋग्वेद में विष्णु के परमपद को 'मधुका उत्स' बताया गया है–

तदस्य प्रिय भीमपायो अश्यां नरो यत्र देवः यवो मदन्ति।[2]
उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्या विष्णोः परमें पदे मध्व उत्स।।

---

1. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव– डा० शरण बिहारी गोस्वामी, पृ० 283
2. ऋग्वेद, द्वितीयाष्टक, विष्णुसूक्त।

ऋग्वेद में ही हमें एक और मंत्र मिला है, जहां कहा गया है कि वह विद्वानों द्वारा अत्यन्त साधनापूर्वक देखा जाता है और बाजसनेयि-संहिता में एक मंत्र प्राप्त होता है, जिसमें वैष्णवों ने ब्रज के दर्शन किये हैं जहां बड़े-बड़े सींगों वाली गाये रहती हैः-

या ते धामान्युष्मसि गमयच्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदरुगायस्य विष्णोः परमंपदभवभाति भूरि।।

उत्तसाही वैष्णव विद्वानों ने तो वेद में श्रीकृष्ण और उनकी समस्त लीलाएं ढूढ़ निकाली हैं। पूतनोद्धार लीला, रूखल-बन्धन और यमलार्जुन की कथा तथा गोवर्धन-धारण भी इन्हें वेदमन्त्रों में प्राप्त हैं।[1] यहाँ इन सबका उल्लेख विषयान्तरण होगा परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि विष्णु के धामों के नाम में वैष्णवों ने ब्रज की फलक भी देख ली हैं।[2]

सर्वमान्य रूप से ब्रह्म अथवा विष्णु के जिन अन्य धामों का वर्णन हमें वेद सम्बन्धी साहित्य में मिलता है, वे हैं, परमव्योम[3], ब्रह्मपुर[4], ब्रह्मलोक[5], अव्यक्त धाम[6], अक्षरधाम[7], त्रिपाद[8] विभूति, चिदाकाश[9] आदि। वेद-श्रुति साहित्य में इन सभी नामों का

---

1. इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये देखिए सर्वेश्वर मासिक पत्र का वृंदावनांक चैत्र सं0 2013, वृन्दावन से प्रकाशित, पृ0 22,23,24 आदि।
2. वेदो में विष्णु का अर्थ सूर्य है, अतः वहां गायों का अर्थ किरण इत्यादि लिया जाता है यह आख्या अनेक विद्वानों द्वारा सम्मत है।
3. यो स्याध्यक्षः परमे व्योमन सो अंग वेद यदि वा न वेदः।
   ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्या हसन्ति देवा। ऋ0, यु0त0स0,पृ0192
4. यदिदस्मिन ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिकान्तराकाशस्तस्मिन्य दन्तस्तदवेष्टव्यं तद्धाव विजिज्ञासितव्याभिति। ----- छान्दोग्य, 8.1.1
5. य एते ब्रह्मलोके तं देवा आत्मानमुपासते--- छान्दोग्य, 8.12.6

6.7. ऋचो क्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु।
   यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य हन्तद्विदुस्त इमें समासते, श्वेताश्वर, उप0 4/8

8. एतावानस्य महिमा व्रतो ज्यायांश्च पुरुषः।
   पाक्षे स्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिविः। -- ऋग्वेद, पुरुष सूक्त।
9. सूर्योपनिषद - 5.113

सामान्य तथा अत्यधिक प्रयोग हुआ है और इन्हें त्रिगुण माया से परे ऐसा स्थल माना गया है, जहां पूर्णानंद है, नित्यमुख है वह स्थान ब्रह्माण्डों से परे एवम् ब्रह्माण्डातीत शून्य से भी विलक्षण है। तत्वतः अक्षर ब्रह्म का हृदय स्थल होने के कारण वह परम व्योम ब्रह्मस्वरूप ही कहा जाता है।

वैकुण्ठ :–

विष्णु के साकार रूप के विशद अभिव्यंजना के साथ ही उनके अवतारों और लीलाओं का गान पुराणों ने किया। उनके परिकरो का विवरण प्रस्तुत हुआ और उसी के साथ उनका धाम भी समुद्र रूप में सर्वोच्च होकर प्रकाशित हुआ। विष्णु के उस परम लोक को वैकुण्ठ कहा गया और उसकी दिव्यता में उपर्युक्त सभी धाम–रूप या तो एकाकार हो गये अथवा उन्होंने निम्न श्रेणी ग्रहण की। श्रीमद्‌भागवत में सर्वोच्चधाम के रूप में वैकुण्ठ का ही वर्णन है।[1] विष्णु के अवतार के रूप में श्रीकृष्ण के स्वधाम का अर्थ भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने सर्वत्र वैकुण्ठ ही किया है। परन्तु श्रीकृष्ण के स्वधाम के रूप में वैकुण्ठ नाम भागवत में स्पष्ट नही है।[2] यों वैकुण्ठ धाम का श्रीकृष्ण के साथ व्यापक सम्बन्ध वैष्णव–साहित्य में अन्यत्र प्रभूत मात्रा में मिलता है। इसे नित्य सिद्ध, भगवन्मय, पांचकालिक, अनेक सभाप्रसाद वनोपवन, वापी, कूप, तड़ागों से युक्त, अप्राकृत, देवताओं से प्रणम्य, प्रकृष्ट

---

1. सूर्योपनिषद, 5.113।
2. श्रीमद्‌भागवत, 3, 16 अध्याय।

सत्यराशि और रमा के साथ क्रीड़ा करने वाले केशव की भूमि बताया गया है।[1]

गोलोक :–

वैकुण्ठ का वास्तविक सम्बन्ध विष्णु के साथ है तथा उनके अवतार होने के कारण ही श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी वैकुण्ठ के साथ देखा गया है परन्तु वास्तव में श्रीकृष्ण का नित्य धाम पुराण इत्यादि में गोलोक ही वर्णित हुआ है। महाभारत शन्तिपर्व के नाराणीय पर्व में गोलोक धाम का वर्णन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण ने ब्रह्मलोक के समान ही गोलोक को भी सनातन धाम बताया है–

एवं बहुविधैरूपैश्चरामीह वसुन्धराम्।

ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं च सनातम।।[2]

हरिवंश में भी इन्द्रयज्ञ भंग होने के समय इन्द्र ने गोलोक को ही परागति बताया है, साथ ही गायों को लोग (गवां लोकः गोलोकः) के रूप में इनके नामक की व्याख्या की गई है।[3]

---

1. लोके वैकुण्ठनामानं दिव्यषाड्गुण्यसंयुतम्।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविदर्जितम।।
नित्यसिद्धैः समाकीर्णत्वन्मयैः पांचकालिकैः।
समाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम।।
वापीकूपतडागैश्च वृक्षाण्डै सुमण्डितम्।
अप्राकृत सुरैर्वन्दसूयंअयुताकसमप्रभाष।।
प्रकृष्ट सत्वराशिं स्वां कदा प्रक्ष्यामि।
चक्षुषाकीडन्तं रमया सार्द्ध लीलाभूमिषु केशवम्।।
पांचरात्रातंर्गत जितते स्तोत्र, 1,18-20
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 342.138
3. ब्राह्मे तपसियुक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः।
गवामेव तु गोलोक दुरारोहा हि सा गा स तु
घृतो घृतिमता वीर निधनतोपद्रवान्गवाम्।
हरिवंश, विष्णुपर्व, अ0 19, श्लोक 34, 35

ब्रह्म संहिता में गोलोक को ही श्रीकृष्ण का निज धाम बताया गया, और उसकी स्थिति देवी, महेश आदि के धामों से उच्च मानी गयी है।[1] पुराणों में ब्रह्म वैवर्त-पुराण में गोलोक के विस्तृत-विशद वर्णन भरे पड़े है।[2] सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण के धाम के रूप में गोलोक की मान्यता है। गौड़ीय, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण के धाम के रूप में गोलोक और वृन्दावन दोनों का विशिष्ट रूप में सामंजस्य हुआ है।

ब्रज :-

भगवान की अप्रकट और प्रकट लीला के अनुसार उनके धाम भी अप्रकट और प्रकट दो प्रकार के हैं। वैकुण्ठ गौर गोलोक आदि धाम अप्रकट लीला के धाम माने जाते हैं। ब्रज, मथुरा और द्वारका ये श्रीकृष्ण के प्रकट लीलाधाम हैं। इन लीलाओं में क्रमशः ऐश्वर्य कम होता जाता है। और माधुर्य बढ़ता जाता है। श्रीकृष्ण और रूक्मिणी के उपासक सम्प्रदाय द्वारका को श्रीकृष्ण का नित्य धाम स्वीकृत करते हैं। दूसरे, मथुरा को द्वारका से अधिक महत्व देते है क्योंकि उनकी दृष्टि में मथुरा ही रस स्थान है।[3] लीला के तारतम्य से द्वारका और मथुरा से ब्रज की लीलाओं को अधिक अन्तरंग माना जाता है और इसीलिए ब्रज को श्रीकृष्ण का

---

1. गोलोक नाम्नि निज धाम्नि तले
   च यस्य देवी महेश हरिधामसु तेषु तेषु।
   ते ते प्रभाव निचया रचिताश्च येन
   गोविन्दमादिपुरूषं तमहं भवामि।। ब्रह्मसंहिता, 5.4
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय 28 आदि।
3. धर्मस्थानं त्वयोध्यक्षं श्रीरंग मुक्तिसाधनम्।
   द्वारिका भक्तिकृत प्रोक्ता रसस्थानं तु माथुरम्।
   वृहद ब्रह्म संहिता 2.4.5

अधिक अन्तरंग धाम स्वीकृत किया जाता है। ब्रजधाम को गुणातीत कहा गया है अर्थात यह भगवान का चेतनांश है। स्कन्दपुराण के भागवत महात्म्य में ब्रज को व्यापक और गुणातीत मानकर उसकी व्याख्या की गई है–

ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्ता व्यापनाद्ब्रज उच्यते।
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापके ब्रज उच्यते।[1]

ब्रज शब्द का प्रयोग 'गायो' के समूह और ब्रजवासी दोनों अर्थो में हुआ है। प्रतीत होता है कि मथुरा के पास यमुना किनारे ब्रज गोचारण योग्य भूमि थी। यहीं गोप लोग अपनी गाएं चराते रहे, धीरे–धीरे यहीं आकर बस गए। इसलिये ब्रज शब्द पहले गोवृन्द के अर्थ में, बाद में स्थान विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।[2]

श्रीमद्भागवत में गोपियों ने ब्रज को सर्वाधिक महत्व दिया है और भगवान के जन्म से ब्रज को ही श्रीमण्डित हुआ बताया है।[3] इस ब्रज का और हिन्दी के भक्त कवियों का निकट का सम्पर्क है। श्रीकृष्ण कहीं भी रहें, वे ब्रज को कभी नहीं भूलते। सूरदास जी के सूरसागर में भगवान कृष्ण ने उद्धव से कहा है–

उद्धो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।

हंस–सुता की सन्दर कमरी और तरूवर की छाही।[4]

---

1. स्कन्द पुराण, भागवत महात्म्य।
2. सूरदास की प्रतिभा, डा0 भगवती प्रसाद राय पृ0 83
3. जयति तेऽधिकं जन्मना ब्रज अयत इन्दिरा शश्वदत्त हि।
   गोपीगीत, भागवत 10.31.1
4. सूरसागर दशम स्कन्ध पद संख्या 4775

ब्रज के भी धाम की दृष्टि से दो विशिष्ट स्थल हैं, वृन्दावन और गोकुल। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में वल्लभ सम्प्रदाय गोकुल को विशेष महत्व देकर चलता है यद्यपि सूरदास ने वृन्दावन का गान अधिक तन्मयता के साथ किया है।

वृन्दावन :-

ब्रज के समस्त लीला स्थलों में वृन्दावन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया गया है। इसे श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी केलि क्रीड़ा (रासलीला) का प्रधान केन्द्र और रासेश्वरी राधा जी का पुनीत क्रीड़ास्थल माना जाता है। 'वृन्दा' का अर्थ है भक्ति और 'वन' का अर्थ है 'प्रदेश'। इस प्रकार वृन्दावन का आध्यात्मिक अर्थ है 'भक्ति का प्रदेश'। वल्लभाचार्य की सुबोधिनी टीका में पहले श्लोक में (वेणुगीत के कुल 20 श्लोकों सबसे पहले उक्त वृन्दावन की व्याख्या है) भगवान का वृन्दावन प्रदेश वर्णित है। अपने रसमय स्वरूप से गोपियों को आसक्त करने के लिए भगवान कृष्ण ज्ञान और कर्म को छोडकर विशुद्ध भक्ति भूमि में पदार्पण करते हैं। वृन्दावन प्रदेश का यही परमार्थ है। श्रीकृष्ण की ऐश्वर्य लीला का प्रकाश मथुरा में हुआ। उनके माधुर्य पक्ष का प्राकट्य वृन्दावन में हुआ। इसलिए धार्मिक दृष्टि से वृन्दावन का स्थान मथुरा से ऊँचा माना गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से वृन्दावन मथुरा से अधिक रमणीय था। वहां नाना मनोरम लता गुल्म तथा सुन्दर वृक्ष थे। वृन्दावन के चारागाह में गायों को छोड़कर श्रीकृष्ण अपने साथियों के साथ वहां के सघन वृक्षों के नीचे क्रीड़ा करते थे। जल

क्रीड़ा की दृष्टि से वृन्दावन के पास यमुना की स्थिति बड़ी सुपास थी। यमुना उनके लिए नदी मात्र नहीं थी बल्कि उनके सुख दुख की साथी थी। रास लीला के पश्चात् उसमें जल क्रीड़ा कर श्रीकृष्ण तथा गोपियाँ अपने श्रम का परिहार करती थी। संयोगवस्था में यमुना पुलिन उनकी क्रीड़ास्थली भी और वियोगावस्था में यमुना को लक्ष्यकर विरहोद्‌गार व्यक्त किए गए। नन्दग्राम और वृषभानपुरा के समीप गिरिराज गोवर्धन स्थित है। खेती के लिये अन्य गोचारण भूमि का उपयोग हो जाने पर पशु के लिए गोवर्धन की पाद भूमि सुलभ थी। इसलिए गोपाल इन्द्र से अधिक गोवर्धन का उपकार मानते थे।यथा समय श्रीकृष्ण के लीला विस्तार से इस क्षेत्र का विस्तार होता गया और ब्रज की परिधि चौरासी वर्ग मील हो गई। इसके अन्तर्गत द्वारका और कुरुक्षेत्र को स्थान देने का प्रयास किया गया। कृष्ण कालीन वृन्दावन 24 कोस तक विस्तृत था इसका समर्थन गर्गसंहिता से होता है।[1]

प्रसिद्ध वैष्णव उपनिषद 'गोपालतापिनी' में वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का धाम कहा गया है। इस वृन्दावन को वहाँ गोपालपुर नाम भी दिया गया है। सरोवर में जिस प्रकार कमल स्थित रहता है उसी प्रकार चक्र रक्षित भूमि में मथुरा है और उसमें गोपालपुरी स्थित है।[2]

---

1. गर्गसंहिता, वृन्दावन खण्ड, अध्याय 1 श्लोक 15,16,17
2. यथा हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूक्यां तिष्ठति चक्रेण रक्षिता हि मथुरा तस्माद् गोपालपुर भवति। गोपालोत्तर तापिनी उपनिषद

पुराण ग्रन्थों में प्रकट वृन्दावन को सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत पुराण ने दिया है। श्रीमद्भागवत का प्राण उसका रासपंचाध्यायी स्थल है। श्रीकृष्ण का मुरलीवाद सुन गोपियां ब्रज से दौड़कर वन में आयी थी। यह वन वृन्दावन ही है।[1] पदम्पुराण (11,17) के अनुसार यह ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह वनों में सातवां वन है।

भद्रश्री लोह भांडीर महाताल खदीरकाः।
ब्कुलं, कुमुदं, काम्यं, मधु वृन्दावनं यथा।

गोलोक और वृन्दावन का समन्वय करते हुए वृन्दावन को गोलोक का गुह्य से गुह्य स्थल माना है।[2] गौड़ीय सम्प्रदाय में जहां राधा कृष्ण की लीलाओं का रहस्यमय ध्यान वर्णित है वहां धाम रूप में वृन्दावन का ही वर्णन है। श्रीजीवगोस्वामी ने वृन्दावन को सर्वोपरि बताते हुए गोलोक को वृन्दावन का वैभव प्रकाश माना है।[3]

वृन्दावन के स्वरूप के सम्बन्ध में वल्लभ मत अन्य सम्प्रदायों की भांति उसे ब्रह्म का स्वरूप मानता है। इसको अक्षर ब्रह्म कहा गया है। वृन्दावन को सूर ने "नित्य धाम वृन्दावन श्याम" कहा है। श्रृंगार लीला की दृष्टि से इस लीला धाम नित्य

---

1. एवं कृष्ण पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून इत्यादि।
   श्रीमद्भागवत 12.30.24
2. वृहद ब्रह्म संहिता। वृ0 पाद, द्वि0अ0, 10,11
3. इत्यं श्रीवृन्दावनस्य प्रकटलीलानुगतप्रकाश एव गोलोक इति व्याख्यातम्।
   श्रीकृष्ण सन्दर्भ, श्री जीवगोस्वामी, कलकत्ता पृ0 419

वृन्दावन के भी दो वर्ग हो गये हैं– कुंजलीला और निकुंज लीला। कुंज लीला सामान्य ब्रजलीला है। यह कुंज में की गई गोपी–कृष्ण श्रीकृण इसके आलम्बन और गोपियां इसके आश्रय हैं। कुंज गोपी प्रधान है। निकुंज लीला विशेष गोपनीय और अन्तरंग है। यह राधाकृष्ण की विभूत निकुंजकेलि है। इसका स्थायी भाव राधा रति है। श्रीकृष्ण इसके आश्रय और राधा विषय है। निकुंज राधा प्रधान है। राधावल्लभीय आचार्य हित हरिवंश कुंजलीला को ब्रज रस और निकुंजलीला को वृन्दावन रस मानते हैं।

वृन्दावन नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। नित्य वृन्दावन सर्वव्यापक और अद्भुत है, अक्षर ब्रह्म के हृदय में स्थित है, प्रकृति स्पर्श से रहित है। ''भूमिविद्या'' में इसे 'महिम' शब्द से सम्बोधित किया गया है। इसी वृन्दावन में राधा और कृष्ण को अनवरत गति से चलने वाली अमृत प्रस्तविणी लीला भी रसिकों का परमोपास्य है। इसी नृत्य वृन्दावन का अंशभूत अनित्य वृन्दावन है, प्रति ब्रह्माण्ड में भिन्न–भिन्न है, प्रकृति स्पर्श से युक्त है, काल और प्रकृति के प्रभाव में रहता है। इन दोनों के मध्य में गोलोक द्वार है जो विरजा के पास प्रकृति स्पर्श से रहित है। लीला भी धाम भेद से तीन प्रकार की बतलाई गयी है, वास्तवी, प्रातिभासिकी और व्यावहारिकी। अक्षर ब्रह्म के हृदय में जो लीला चल रही है, उसे वास्तवी, नित्य वृन्दावन की लीला को प्रातिभासिकी और ब्रजभूमि वाली लीला को व्यावहारिकी कहते हैं। पद्मपुराण के पातालखण्ड में वृन्दावन के तीन रूपों का परिचय कराया गया है। आधिभौतिक

वृन्दावन जो कि प्रकट वृन्दावन ही है, आधिदैविक वृन्दावन अप्रकट है। आध्यात्मिक देखा गया है। यह वृन्दावन भगवान का शरीर ही है, जिसमें कालिन्दी सुषुम्ना नाड़ी है जो श्रेष्ठ अमृत की प्रस्त्रविणी है।

(घ) हिन्दी के सगुण भक्ति कवि और उनके काव्य :-

मध्यकालीन हिन्दी के सगुण भक्त कवियों की परम्परा एवम् तत्सम्बन्धी सूची का परिचय तत्कालीन संग्रह ग्रन्थों में मिलता है। इन कवियों के परिचय का संकेत नाभादास कृत भक्तमाल, गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा ध्रुवदास की भक्त नामावली में प्राप्त है। ध्रुवदास 18वीं शती के कवि है फलतः उनकी रचना बहुत विस्मृत हो गई है। इसमें परम्परा के अनेक कवि भक्त आ गए है। गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्टछाप तथा अन्य सम्प्रदायों के कवियों का सामान्य परिचय मिलता है। इसमें सबसे अधिक प्रामाणिक सूची भक्तमाल की है। इस सूची में शुद्ध सगुण वैष्णवों के अतिरिक्त रामानन्दी सम्प्रदाय के सन्त भी आ गए हैं, साथ ही कुछ ऐसे भक्तों का भी उल्लेख मिलता है जिनकी सम्प्रति कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है और भक्त परम्परा में न उनकी प्रसिद्धि ही है भक्तमाल में मध्यकालीन भक्त कवियों की एक विस्तृत सूची मिलती है, जिसमें लगभग 40 कवि प्रस्तुत अध्ययन की सीमा में आते हैं। साम्प्रदायिता की दृष्टि से इन कवियों का विभाजन किया जाता है। इन कवियों की दृष्टि कितनी साम्प्रदायिक थी यह विवादपूर्ण है फिर

भी अनेक कवि अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करने के लिए तत्सम्बन्धी कीर्तन, भजन, पद या अन्य प्रकार के काव्य रूपों की रचना किया करते थे। हिन्दी सगुण भक्ति काव्य पर इस परम्परा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए भक्त कवियों का साम्प्रदायिक दृष्टि से विभाजन करना असंगत नहीं है। हिन्दी काव्य के सम्बन्ध में इतना सत्य अवश्य है कि अनेक कवि परम्परा मुक्त हैं। इनमें मीरा का नाम सर्वप्रमुख है। मीरा के पदों वृहत्संग्रह 'मीरा सुधा सिन्धु'[1] के नाम से प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार मीरा की रचनाए इस रूप में बतलाते हैं "गीत गोविन्द की टीका, नरसी जी का माहरा फुट्कर तथा रागसोरठ के पद।"[2] मीरा के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे कवि मिलते हैं, जिनमें केवल वैष्णव धर्म के प्रति आग्रह मात्र है, उनमें सामान्य साम्प्रदायिकता नहीं है। तुलसीदास ऐसे ही कवियों में रखे जा सकते हैं। मध्य कालीन सगुण भक्त कवियों को निम्नलिखित सम्प्रदायों में विभक्त किया जाता है–

(1) रामानुजीय सम्प्रदाय,
(2) वल्लभ सम्प्रदाय का अष्टछाप,
(3) मध्व सम्प्रदाय,
(4) गौड़ीय सम्प्रदाय,
(5) राधा वल्लभ सम्प्रदाय,
(6) रामोपासक मधुर सम्प्रदाय तथा
(7) निम्बार्क सम्प्रदाय :–भक्त कवियों में इसके दो रूप पाये जाते हैं:–

---

1. श्री मीरा प्रकाशन समिति, भीलवाड़ा, राजस्थान पृ0 4 तथा एक दूसरा संकलन भी वृहत मीरा संग्रह, पद्मावती शबनम्, लोक सेवा प्रकाशन, बनारस 2009 प्रकाशित हो चुका है।
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा0 रामकुमार वर्मा पृ0 582

(i) हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवि, तथा
(ii) हरिव्यासी सम्प्रदाय के भक्त कवि।

रामानुजीय सम्प्रदाय :-

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह पूर्णतः सिद्ध नहीं हो सका है कि तुलसी का सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से था। फिर भी तुलसी के सिद्धान्त रामानुज सम्प्रदाय के अधिक निकट है। ब्रह्म, राम, जीव, माया भक्ति एवम् ज्ञानादि सम्बन्धी धारणाओं में वे अन्य सम्प्रदायों से कहीं अधिक विशिष्टाद्वैत का समर्थन करते हैं। किन्तु तुलसी के बाद उनकी परम्परा में ऐसा कोई कवि नहीं मिलता जो उनका पूर्ण प्रधिनित्व कर पाता। विद्वानों ने प्राणचन्द चौहान, केशवदास तथा सेनापति आदि परवर्ती कवियों को तुलसी परम्परा का बताया है। डा0 राम कुमार वर्मा ने नाभादास को तुलसीदास के परवर्ती कवियों की परम्परा में रखा है, किन्तु नाभादास को रामभक्ति शाखा के मधुर सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही प्रामाणिक है, शेष प्राणचन्द चौहान, केशवदास, सेनापति आदि तुलसी परवर्ती राम भक्ति शाखा के कवि साम्प्रदायिक न होकर सम्प्रदायमुक्त हैं। मध्यकालीन वैष्णव धर्म की अनेक प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में मिल जाती हैं किन्तु समग्रतया ये कवि सगुण भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। इस दृष्टि से रामानुजीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत मात्र तुलसी को ही रखा जा सकता है। तुलसी की निम्न रचनाएं प्रमाणिक समझी जाती है :-

1. राम लला नहछू
2. रामाज्ञा प्रश्न
3. जानकी मंगल
4. पार्वती मंगल
5. वरवै रामायण
6. तुलसी सतसई
7. दोहावली
8. कवितावली
9. राम गीतावली
10. कृष्ण गीतावली
11. विनय पत्रिका
12. राम चरित मानस
13. हनुमान बाहुक

डा0 माता प्रसाद गुप्त ने तुलसी सतसई को प्रामाणिकता के विषय में संदेह किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय :-

सिद्धान्त तथा काव्य दोनों दृष्टिकोणों से यह सम्प्रदाय भक्ति आन्दोलन को अधिक सशक्त बनाने में सहायक हुआ है। हिन्दी के मध्यकालीन सगुण भक्ति साहित्य में अपनी समृद्धि के लिए इस सम्प्रदाय पर सर्वाधिक आधृत है। इस परम्परा के प्रख्यात आठ कवि आजीवन काव्य साधना में जुटे रहे हैं। ये अष्टछापी कवि के नाम से हिन्दी साहित्य में बहुश्रुत हैं। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित परमानन्द दास, सूरदास, कुंभनदास एवं चतुर्भुजदास चार तथा विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित गोविन्ददास, नन्ददास, छीत स्वामी एवम् कृष्णदास क्रमशः इन आठ भक्तों की मंडली अष्टछाप के नाम से विख्यात रही है इस सम्प्रदाय के कवियों की कृतियाँ इस प्रकार हैः-

परमानन्ददास :- (जनम सं0 1550, सम्प्रदाय प्रवेश सं0 1576, मृत्यु 1640)

रचनायें :- दान लीला, ध्रुव चरित्र, हस्तलिखित, परमानन्द सागर। परमानन्द सागर के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें कांकरौली संस्करण अपेक्षाकृत प्रामाणिक है।

सूरदास :- (जन्म सं0 1535 के आसपास, मृत्यु 1638-1639) इनके द्वारा प्रणीत 24 ग्रन्थ बताये जाते है :-

1. सूरसागर 2. दशम स्कन्ध भाषा 3. नाग लीला
4. सूर पचीसी 5. प्राणप्यारी भाषा 6. व्याहलो
7. सूर रामायण (काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित सूरसागर के नवम् स्कन्ध के अन्तर्गत। 8. मान लीला 9.राधा रसकेलि कौतुक
10. सूरसारावली 11. सूरशतक 12. हरिवंश टीका
13. एकादशीमहात्म्य 14. प्राणप्यारी 15. भंवर गीत
16. दानलीला 17. सूर साठी 18. सूर सागर सार
19. साहित्यलहरी 20. नलदमयन्ती 21. राम जन्म
22. सेवा फल 23. भागवत भाषा 24. भंवरगीत[1]

कुंभनदासः- (जन्म संवत् 1535; सम्प्रदाय-प्रवेश 1549; मृत्यु सं0 1638)

डा0 दीन दयाल गुप्त के अनुसार इनके पदों के संग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। हिन्दी संसार में अभी तक इनका कोई पद-संग्रह प्रकाश में नहीं आया, किन्तु कुंभनदास के पदों का एक संग्रह विद्या विभाग, कांकरौली से प्रकाशित हो चुका है।

कृष्णदास :- (जन्म संवत् 1550 के आसपास; मृत्यु सं0 1632 तथा 1638 के बीच) इनकी आठ रचनाओं का उल्लेख डा0 दीनदयाल गुप्त ने किया है। किन्तु उनमें से समस्त रचनाओं को उन्होंने प्रामाणिक नहीं माना है। ये रचनायें इस प्रकार है-

---

1. अष्टछापी कवियों की अधिकांश सूचनायें, डा0 दीन दयाल गुप्त के शोध प्रबन्ध, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग पर आधारित है।

1. जुगलमान चरित्र	5. प्रेम सत्व निरूपण
2. कृष्णदास की बानी	6. भक्तमाल टीका
3. भगवत भाषानुवाद	7. प्रेम रस सागर
4. भ्रमर गीत	8. वैष्णव वन्दन

किन्तु ये रचनायें अप्रकाशित हैं। विद्या विभाग, कांकरौली से कृष्णदास के पदों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

नन्ददास :- (जन्म सं0 1590 वि0सं0, सम्प्रदाय प्रवेश 1616; मृत्यु सं0 1642) डा0 दीन दयाल गुप्त ने निम्न 14 रचनाओं को प्रामाणिक माना है।

1. रस मंजरी	2. अनेकार्थ मंजरी	3. मान मंजरी
4. दशम् स्कन्धस भाषा	5. श्याम सगाई	6. गोवर्धन लीला
7. सुदामा चरित्र	8. विरह मंजरी	9. रूप मंजरी
10. रूक्मणी मंगल	11. रास पंचाध्यायी	12.भंवर गीत
13. सिद्धान्त पंचाध्यायी	14. पदावली	

श्री उमाशंकर जी शुक्ल ने रस मंजरी, अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, दशम् स्कन्ध, श्याम सगाई, विरह मंजरी, रूप मंजरी, रास पंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, रूक्मिणी मंगल, भंवर गीत इन 11 रचनाओं को ही प्रामाणिक स्वीकार किया है।

चतुर्भुजदास :- (जन्म संवत् 1597; सम्प्रदाय प्रवेश सं0 1597; मृत्यु सं0 1642) इनकी निम्न चार रचनायें प्रसिद्ध हैं।

1. मधु मालती, 2. भक्ति प्रताप, 3. द्वादश यश, 4. हितू को मंगल

विधा विभाग, कांकरौली से इनके पदों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

गोविन्द स्वामी :– (जन्म सं0 1562 के आसपास; गोलोकवास सं0 1642) वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों के आधार पर डॉ0 दीनदयाल गुप्त ने कीर्तन के नाम से बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। इनके पदों का दूसरा संकलन विद्या विभाग, कांकरौली से प्रकाशित है।

छीत स्वामी :– (जन्म सं0 1567 के आसपास; मृत्यु सं0 1642 के आसपास) डा0 दीनदायाल गुप्त ने इनके छपे हुये 64 पदों का उल्लेख अपने शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत किया है। विद्या विभाग, कांकरौली से इनके पदों का संकलन प्रकाशित हो चुका है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय :– इस सम्प्रदाय का संस्थान श्री हितहरिवंश ने किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा में निम्नलिखित कवि एवं उनकी रचनायें आती हैं।

हितहरिवंशः– (जन्म सं0 1559 तथा मृत्यु 1609) रचनायें–
1. राधा सुधानिधि (संस्कृत) इसकी 10 टीकाओं का उल्लेख मिलता है। इसमें 260 श्लोक हैं। यह प्रस्तुत अध्ययन की सीमा के बाहर है इसी तरह इनकी संस्कृत में प्रणीत एक अन्य कृति 'यमुनाष्टक' भी प्रसिद्ध है। हिन्दी रचनाओं में 'हित चतुरासी' 84 पदों का संग्रह है।

दामोदरदास सेवक जीः– (जन्म सं0 1577 के आसपास तथा मृत्यु 1610) इनकी रचना का नाम 'सेवकवाणी' है। यह चतुरासी पर आधारित तथा सोलह प्रकरणों में विभक्त है।

हरिराम व्यास :-(जन्म सं0 1560 के लगभग तथा मृत्यु समय अज्ञात) रचनायें व्यासवाणी। इसमें 658 पद तथा 148 दोहे या साखियाँ है। इनकी अन्य कृतियाँ रागमाला तथा नवरत्न एवं स्वधर्म पद्धति संस्कृत में हैं। अन्य कवियो में चतुर्भुजदास तथा ध्रुवदास का अधिक महत्व है। चतुर्भुज दास रचित द्वादशयश एवं ध्रुवदास की 42 रचनायें प्रसिद्ध हैं। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन की समय सीमा में ये कवि नहीं आते।

निम्बार्क सम्प्रदाय –

निम्बार्क सम्प्रदाय मध्यकाल में वस्तुतः हरिव्यासी और हरिदासी दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ है। ये दोनों सम्प्रदाय यद्यपि कृष्ण की रसिक उपासना को ही आधार मानकर अपनी प्रेम–साधना में तत्पर थे; किन्तु दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के ही फलस्वरूप इसकी दो शाखायें बन गई। इन दोनों शाखाओं के कवियों एवं उनकी रचनाओं की सूची इस प्रकार है–

हरिदासी सम्प्रदाय–

हरिदास स्वामी :–(जन्म विक्रम की 16वी शती; मृत्यु 17वीं शती का मध्यकाल) इनके 128 ध्रुपद प्राप्त है। 18 सिद्धान्त के पद 108 या 110, श्री राधाकुंज विहार पद कहे जाते है। इन पदों का संग्रह केलिमाल के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पदों का संकलन प्रभुदयाल मीतल के साहित्य संस्थान, मथुरा से प्रकाशित हो चुका है।

श्री बिट्ठल विपुल :- (जन्म एवं मृत्यु स्वामी हरिदास के आसपास 16वी तथा 17वीं शती के आसपास) इनके द्वारा रचित 40 पद बताये जाते हैं। इनके 7 पदों का संकलन प्रभुदयाल मीतल ने 'स्वामी हरिदास एवं अष्टचार्यो की वाणी' किया है।

श्री बिवरिनदास :-(जन्म सं0 1561; मृत्यु सं0 1659) इनके रचे हुये 700 दोहे (साखी के रूप में), 200 सिद्धान्त पद तथा 400 श्रृंगार पद बताये जाते हैं निम्बार्क माधुर में इनके 90 पदों का संकलन प्राप्त है।

नागरीदास :- (निज मत सिद्धान्त के अनुसार उनका जन्म सं0 1611 तथा मृत्यु सं0 1683 के लगभग है) इनके द्वारा रचित वाणी में कवित्त, सवैया और पद प्राप्त हैं।

हरिव्यासी सम्प्रदाय -

हरिव्यासी सम्प्रदाय के प्रथम सिद्धान्त विवचेक श्री भट्ट जी कहे जाते हैं। जिनसे हरिव्यास देवाचार्य ने दीक्षा ली थी। इन्हीं हरिव्यास देव जी ने हरिव्यासी सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

श्री भट्टजी का कविता-काल तेरहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर चौदहवीं के मध्य तक है। इनकी रचना का नाम श्री जगलसत है। जिसके 49 पद निम्बार्क माधुरी में संकलित हैं।

श्री हरिव्यास देवाचार्य :- (जन्म सं0 1620 तथा मृत्यु काल अनिश्चित) इनके द्वारा निर्मित 3 ग्रन्थ बताये जाते हैं। सिद्धान्त रत्नाजंलि, अष्टयाम, श्री निम्बार्क अष्टोत्तर शतनाम की टीका, तत्वार्थ पंचक, पंच संस्कार निरूपण तथा श्री महावाणी। श्री

जुगलसत का भाष्य है। निम्बार्क में इनके 10 स्त्रोत्र तथा 72 पद संकलित हैं।

श्री रामदेव जी :- (जन्म सं0 16वी शती तथा मृत्यु अज्ञात) आपकी रचना परशुराम सागर के नाम से प्रसिद्ध है जिनमें बाइस सौ दोहे, छप्पय, छन्द, एवं हजारों पद हैं। श्री निम्बार्क माधुरी में 100 दोहे तथा 33 पद संकलित हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय -

हिन्दी के गौड़ीय सम्प्रदाय के कवियों का विस्तृत परिचय अद्यावधि अनुपलब्ध था। किन्तु इस मत के ब्रजभाषा कवियों की एक विस्तृत एवं प्रामाणिक सूची प्रभुदयाल मीतल ने 'चैतन्यमत और ब्रजसाहित्य' नामक पुस्तक में दी है। प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से यह विवरण इस प्रकार है।

माधवदास जगन्नाथी :- (समय 15वी शती) इनके द्वारा लिखित कई रचनाओं की सूची मीतल ने इस प्रकार दी है- इतिहास कथासार समुच्चय, नारायण लीला, ग्वालिन झगरौ, मदालसा व्याख्यान, परतीत परीक्षा। इसके अतिरिक्त इनके अन्य छोटे ग्रन्थ भी हैं- बाल लीला, नागरी लीला, जनमकरन लीला, ध्यान लीला, रथ लीला, तथा रघुनाथ लीला।

आनन्द धन :- (सुजान-प्रेमी राधावल्लभी सम्प्रदाय से पृथक; जन्म सं0 1550 तथा मृत्यु 1600 के आसपास) इनके द्वारा रचित मात्र कुछ फुटकल पद प्राप्त होते हैं। पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में आनन्द धन के नाम से प्रकाशित पद इन्हीं के बताये जाते हैं।

राम राय :- (सं0 1600 के आसपास इनका जीवन-काल निश्चित किया जाता है) इनके द्वारा चरित दो ग्रन्थ बताये जाते हैं, आदि वाणी तथा गीत गोविन्द्र भाषा।

सूरदास मदन मोहन :- (इनका जीवन-काल सं0 1600 के आस पास निश्चित किया जाता है) इनके द्वारा भागवत दशम स्कन्ध के भाषानुवाद का भी संकेत किया जाता है; किन्तु यह अप्राप्य है। 'प्रभुदयाल मीतल ने साहित्य-संस्थान', मथुरा ने इनके पदों का संग्रह प्रकाशित कराया है।

गदाधर भट्ट :- (जनका भी जीवनकाल सं0 1600 के आसपास स्थिर किया जाता है) गदाधर भट्ट की वाणी के नाम से इनके पदों का सम्पादन बाबा कृष्णदास ने कराया है। इन पदों की संख्या 100 के लगभग है।

चन्द्रगोपाल :- (जन्मकाल सं0 1600 के लगभग) इनकी संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में रचनायें मिलती है। संस्कृत की इनकी रचनायें इस प्रकार है- श्री राधा माधव भाष्य, गायत्री भाष्य तथा श्री राधामाधवाष्टक। चन्द्र चौरासी, अष्टयाम सेवा सुधा, गौरांग अष्टयाम, ऋतुविहार तथा राधा विरह उनकी ब्रजभाषा में प्रणीत कृतियां है।

इसके साथ ही साथ इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत राम राय तथा चन्द्रगोपाल के शिष्यों का उल्लेख मिलता है। राम राय के बारह तथा चन्द्रगोपाल के चार शिष्य थे।

रसिक सम्प्रदाय के हिन्दी कवि तथा उनकी रचनायें:-

रसिक सम्प्रदाय के कवियों को भी मध्यकालीन सगुण भक्त कवियों की सीमा के अन्तर्गत रखा जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि इस सम्प्रदाय पर कार्य करने वाले विद्वानों को इनकी साहित्यिक अभिरूचि एवं रचनात्मक प्रतिभा पर अविश्वास है और यह सत्य भी है, किन्तु भक्ति काव्य की परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ इस सम्प्रदाय का अध्ययन अपेक्षित है। इनके काव्य की प्रवृत्ति एक ओर कृष्ण भक्ति साहित्य से मेल खाती है, दूसरी ओर इस पर तत्कालीन काव्य-परम्पराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसकी रसिकता का स्तर प्रायः छिछला ही है। निश्चित ही इस प्रकार का साहित्य उस महान धारा का तलछट ही कहा जा सकता है जिसने कि एक उपेक्षित पक्ष की ओर भावुक भक्तों का ध्यान आकृष्ट कर हिन्दी साहित्य में एक नई चेतना उत्पन्न की। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्न कवियों का उल्लेख किया जा सकता है।

अग्रदास :- (उपनाम अग्रअली)

रचनायें- 1. ध्यान मंजरी, 2. कुंडलियाँ।

डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह का कथन है कि इनमें प्रथम रचना 'राम ध्यान मंजरी' तथा द्वितीय 'उपदेश उपरवाण बावनी' नाम से भी प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त; 'श्रृंगार रस सागर' अथवा 'अग्रसागर' नामक विशाल रसिक ग्रन्थ इनके द्वारा विचरित बताया जाता है।

नाभादास– (नारायणदास नाभाअली) (17वी शती) रचनायें– भक्तमाल, श्रीराम से सम्बन्धित दो अष्टयाम, ब्रजभाषा पद्य तथा गद्य। रामचरित संग्रह नामक एक चौथै ग्रन्थ का भी उल्लेख विद्वानों ने किया है, किन्तु परीक्षा करने पर वह ब्रजभाषा में रचित अष्टयाम के कतिपय छन्दों का संकलन मात्र ठहरता है। भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने इनके अष्टयाम का भी संकलन किया है।

बालकृष्ण या बालअली :– (17वीं शती) इनकी आठ रचनाओं का पता चलता है– ध्यान मंजरी, नेह प्रकाश, सिद्धान्त तत्व दीपिका, दयाल मंजरी, ग्वाल पहेली, प्रेम पहेली, प्रेम परीक्षा, परतीत परीक्षा। इनकी ध्यान मंजरी एवं नेह प्रकाश का संकलन भुवनेन्द्र मिश्र माधव के ग्रन्थ में प्राप्त है।

स्वामी रामानन्द, स्वामी अनन्तानन्द तथा कृष्णदास पयहारी। कृष्णदास पयहारी के दो शिष्य थे– कील्हदास तथा अग्रस्वामी। कील्हदास की परम्परा में छोटे श्री कृष्णदास, श्री विष्णुदास, रसि केन्द्र श्री नारायण मुनीन्द्र, श्री हृदयदेव, स्वामी प्रपन्न मधुराचार्य आदि आते है। अग्रअली की परम्परा में नाभादास एवं प्रियादास का नाम लिया जाता हैं। किन्तु इन भक्त कवियों के काल–निर्णय तथा कृति के समुचित उल्लेख के अभाव में प्राप्त सामग्री के ही आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वैसे प्राप्त सामग्री से इसकी विषय वस्तु एवं विशिष्टता का प्रामाणिक परिचय मिल जाता है।

द्वितीय अध्याय

----- 0 -----

सगुण भक्ति और लीला का अर्थ और इतिहास

सगुण भक्ति और लीला का अर्थ और इतिहास

(क) सगुण भक्ति :-

वैदिक काल में ही ब्रह्म ज्ञान निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में था। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन नितान्त उपयुक्त है कि श्रुतियों के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ऋषियों के मस्तिष्क में ब्रह्म के दो स्वरूप थे-

1. एक गुण, विशेषण, आकार उपाधि से परे निर्गुण, निर्विशेष निराकार और निरूपाधि।
2. दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि।

उपर्युक्त कथनों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मज्ञान के साथ ही निर्गुण और सगुण दोनों विशेषणों का उद्भव हुआ। फिर भी इस विषय में बराबर मतभेद रहा है कि वेदों में ब्रह्म की व्याख्या किस प्रणाली से की गई। कुछ विद्वान मानते हैं कि वेद बहुदेववाद को लेकर चले, कुछ अध्येता वेदों में सगुण उपासना ढूंढ़ निकालते हैं, कुछ एक देवतावाद का सबसे बड़ा प्रमाण वेदों को ठहराते हैं। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर पहली बात जो सामने आती है वह यह कि वैदिक ऋचाओं के अन्तर्गत मनुष्य से ऊँची किसी सत्ता पर निश्चित रूप से विश्वास है।

दूसरी बात यह कि वेदों में की गयी स्तुतियां इस बात की द्योतक हैं कि मनुष्य का उच्च शक्ति से कुछ सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध जहाँ वह अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है, अपने

अभावों की पूर्ति के लिए याचना कर सकता है, अपने ऐश्वर्य की निःसंकोच कामना कर सकता है। वेदों में की गई स्तुतियां इस बात की प्रमाण है कि उस समय के ऋषि को, द्रष्टा को यह विश्वास था कि ईश्वर के साथ-साथ मनुष्य की परिस्थिति का अस्तित्त्व है तथा उसके चारो ओर विस्तृत प्रकृति का अस्तित्त्व है। उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण व सगुण दोनों ही प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। श्वेताश्वेतरोपनिषद में ब्रह्म के स्पष्ट रूप से निर्गुण शब्द का प्रयोग किया गया है-

एको देवो सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च[1]।।

इस प्रकार उपनिषदों में निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों के वर्णन उपलब्ध होते हैं परन्तु उपनिषदों का झुकाव निर्गुण ब्रह्म की ओर अधिक है।

गीता में ब्रह्म के सगुणत्त्व का निर्गुणत्त्व की अपेक्षा अधिक निश्चित प्रतिपादन मिलता है। वैसे गीता में अनेक विशेषण मिलते हैं जो निर्गुण सगुण दोनों की पुष्टि करते है जैसे-कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्,अचिन्त्य रूपम् आदित्य वर्णम् आदि।

श्रीमद्भागवतगीता में जिस सगुण ब्रह्म की ओर संकेत था, उसका विकास पुराणों से हुआ। भागवत पुराण का मध्य युग के हिन्दी भक्तिकाव्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। भागवतकार इस बात को मानकर चले हैं कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं - निर्गुण और

---

1. श्वेताश्वरोपनिषद 6.11

सगुण। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस प्रकार का कथन कि आप ही निर्गुण निराकार हैं और आप ही सगुण हैं, आप ही साक्षी रूप हैं, निर्लिप्त हैं, परमात्मा हैं। प्रकृति और पुरूष के आप ही कारण हैं।[1] स्पष्ट है कि पुराणों में ब्रह्म के सगुण रूप पर अनेक प्रकार से बल दिया गया है।

शंकराचार्य पक्के निर्गुणवादी थे। भक्ति के क्षेत्र में यह बहुत बड़ा व्यवधान था। चौदहवीं शताब्दी में एकाएक वैष्णव धर्म आन्दोलन उत्तरी भारत में प्रबल होकर प्रकट हुआ। 11वीं शताब्दी में दक्षिण से वैष्णव धर्म की धारा धीरे-धीरे आ रही थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां भक्ति युक्त वैष्णव धर्म को स्थायित्त्व प्रदान करने में सहायता की। इस शताब्दी के पहले ही अन्य मतवाद सम्प्रदाय और शास्त्र, लोकमत का सहारा लेने लगे थे। शंकराचार्य का अद्वैतवाद जो पूरे भारत वर्ष में अत्यन्त व्यापक एवम् प्रबलता से फैला था, उसकी जड़ वैष्णव आचार्यो ने हिला दी। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक चार प्रधान वैष्णव आचार्यो का समय समाप्त हो जाता है। रामानुजाचार्य का समय लगभग सन् 1037 ई0 से 1137 ई0 तक माना जाता है। निम्बार्क, विष्णु स्वामी और मध्वाचार्य का समय लगभग 1197 से सन् 1276 तक माना जाता है। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी तक रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, विष्णुस्वामी का विशुद्धाद्वैतवाद और निम्बार्क का द्वैताद्वैतावाद, इन चार मतों की स्थापना सुदृढ़ रूप से हो चुकी थी। इसके बाद वल्लभाचार्य, चैतन्य, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि 15वीं, 16वीं शताब्दी में

---

1. ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड 1,36,37

हुए। उपर्युक्त दोनों आचार्यों को जोड़ने वाले रामानन्द आचार्य थे। रामानन्द का समय 1300 ई0 के बाद मान्य है। रामानन्द ने रामानुज की परम्परा को अपनाकर श्रीसम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया और विष्णु और नारायण का रूपान्तर करके राम भक्ति का प्रचार किया।[1]

ऐसा सभी विद्वान मानते रहे हैं कि रामानुज, निम्बार्क, विष्णु स्वामी और मध्वाचार्य अपने-अपने वैष्णव मतवादों की स्थापना शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में स्थापित किए थे। चूंकि शंकराचार्य पक्के निर्गुणवादी थे उनका मत था कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब कुछ मिथ्या है। यह भक्ति के क्षेत्र में एक बाधक के रूप में था। इस विषय में डा0 विजयेन्द्र स्नातक का कहना है कि 'शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्म सगुण भक्ति के क्षेत्र में कैसे ग्राह्य हो सकता था? फलतः उसके विरोध के लिए एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म की आवश्यकता थी जो वैष्णव भक्ति की परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एवम् स्वीकार्य हो सके'।[2] इस प्रकार रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यो ने विष्णु के अवतारी रूपों की भक्ति का प्रचार किया। निर्गुण-निराकार ब्रह्मोपासना से दूर हटकर सगुणोपासक भक्त कवि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से खिन्न और उद्विग्न होकर भगवान की शरण में जाने को लालायित हुए थे। राजनीतिक दासता अर्थात् मुगल शासकों की

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा0 रामकुमार वर्मा, पृ0 300
2. राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डा0 विजयेन्द्र स्नातक, पृ0 25

साम्राज्य स्थापना के बाद हिन्दू जनता एक प्रकार की लाचारी परवशता और निराशा में लीन होकर ईश्वर की शरण में जाने के सिवा त्राण का कोई उपाय ढूंढ़ नहीं पाती थी। फलतः राम और कृष्ण की सगुण भक्ति द्वारा वह ऐसे अवतारी भगवान को अपने पास रखना चाहती थी जो निःसम्बल, त्रस्त, पीड़ित और विषण्ण हिन्दू जनता की रक्षा कर सकें। इन सगुणोपासक भक्त कवियों नें नाथ पन्थ या अन्य निर्गुणपन्थी कवियों का अनुसरण न करते हुए अवतारी विष्णु भगवान को अपना आराध्य बनाया ओर उसके रूप, शील, गुण, सौन्दर्य के मनोहारी चित्र अपनी कविताओं में अंकित किए। इस प्रकार के वर्णनों में परोक्ष रूप से उनकी यह धारणा रही कि राजनीतिक दासत्त्व से पीड़ित होने पर भी भक्त को शान्त और आत्म-निर्भर होने का मार्ग सगुण भक्ति के माध्यम से सुलभ हो सकता है।

सगुण भक्ति के प्रबल प्रवाह का एक अन्य कारण और भी निर्दिष्ट किया जाता है कि कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध और जैन धर्मो को नास्तिक ठहरा देनें के बाद अद्वैतवाद का प्रचार हुआ और शंकराचार्य इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक बने। "अहं ब्रहमास्मि" "सर्व खल्विदं ब्रह्म" के आधार पर संसार को मिथ्या और क्षण भंगुर मानने वाले ब्रह्मज्ञानी आचार्यो के साथ कुछ अज्ञानी और निरक्षर ब्रह्मवादी भी पैदा हो गये। निर्गुण ब्रह्म की बात करने वाले ये तथाकथित अज्ञानी साधु-सन्यासी न तो ब्रह्म विद्या से परिचित थे और न यथार्थ तत्त्वज्ञान का ही इन्हें बोध था। वैराग्य और मायावाद का ढोंग करने वाले इन साधुओं ने समाज में ऐसी लहर अवश्य पैदा कर

दी थी जो संसार को क्षणभंगुर बताकर विरक्त बनने का प्रोत्साहन देने वाली थी। ऐसे निरगुनिए, दम्भी शासकों से बचने और संसार को सारयुक्त मानकर भगवद्भक्ति के पथ पर जनमानस को लाने के लिए सगुण साकार अवतारी विष्णु की भक्ति का रामानुज, निम्बार्क, मध्व, बल्लभाचार्य आदि दक्षिणात्य आचार्यों द्वारा पुनः प्रवर्तन किया गया। इन आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध करते हुए भक्ति मार्गीय उपासना को प्रश्रय दिया और अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के साथ नवीन अद्वैत–दर्शन स्थापित किया। तुलसी सूर आदि कवियों ने इन आचार्यों के द्वारा सगुण भक्ति मार्ग को प्रशस्त करने में योग दिया। वैष्णव धर्म के प्रत्यागमन का एक कारण और यह हैं कि शंकराचार्य ने भक्ति में निहित द्वैतता की भावना का खंडन शास्त्रीय ढंग से किया था। भक्ति में भगवान और भक्त दो की स्थिति अवश्यमभावी है। शंकराचार्य ने शुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना की। शंकराचार्य अपने मत का शास्त्रीय प्रणाली से प्रतिपादन किया साथ ही पर्यटन करके पूरे भारत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार भी किया। अतः ऐतिहासिक व भौगोलिक दोनों दृष्टियों से अद्वैतवाद की स्थापना हुई। शंकराचार्य ने विभिन्न दिशाओं में अपने मठों की स्थापना की। वैष्णव धर्म के आचार्यों ने 11वीं शताब्दी के बाद सिद्धान्तों के प्रचार का सही मार्ग अपनाया। पहले शास्त्रीय प्रणाली से अपने मत की स्थापना की , दूसरे पर्यटन करके अपने सिद्धान्तों का भारत के विभिन्न कोनों में प्रचार किया। इस प्रकार 13वीं शताब्दी के अंत तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्काचार्य वैष्णव धर्म का शास्त्रीय रूप ले चुके थे।

दक्षिण भारत से सम्बन्धित होने के कारण इन आचार्यों ने अपने मत की स्थापना पहले दक्षिण भारत में की, दक्षिण भारत में स्थापित होने के बाद ये आचार्य उत्तर भारत की ओर बढ़े और अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रचार करनें में अलवारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। क्योंकि अलवारों की रचनाएं जन भाषा में थी और सामान्य जन जीवन में इनके गीतों और भजनों का प्रचार बड़ी सरलता से हुआ। और यह स्वाभाविक भी है कि सामान्य भाषा में जब साहित्य रचना होगी तब वह जन जीवन में अधिक सरलता से प्रचार पा सकती है। उत्तरी भारत में पुनः वैष्णव धर्म के व्यापकत्त्व प्राप्त करने का एक और कारण यह था कि धर्म से सम्बन्धित साहित्य गेय रूप में था। वैष्णव धर्म के मानने वाले कवियों ने जिस साहित्य का सृजन किया, उसका अधिकांश मुक्तक गीतों के रूप में है। इन गीतों और भजनों के रूप में भक्तों के पद बड़ी शीघ्रता से जनता के कंठ में स्थान पा गए। वैष्णव धर्म का उत्तर भारत में फिर से सबल स्थापन करने में एक सबल कारण उस धर्म की सामाजिक उदारता भी थी। वैष्णव धर्म के प्रत्यागमन में धर्म की सरलता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण गृहस्थ जीवन के साथ वैष्णव धर्म का सामन्जस्य था। आरम्भ से अंतिम तक एक ही बात की प्रधानता थी, वह थी भक्ति। भक्ति का सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है फलस्वरूप वर्णहीन, धनहीन, बुद्धिहीन व्यक्ति भी वैष्णव हो सकता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिन सरल साधारण जन हृदय को राज्य के विदेशी अंकुश में आश्रय नहीं मिला, पंडित वर्ग के सामाजिक वैष्णम्य में स्थान नहीं

मिला, उस भोले जन हृदय को जब वैष्णव धर्म ने अपनाया तब सरलता से वैष्णव धर्म जनमानस में प्रविष्ट हो गया।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित वैष्णव धर्म का सामान्य जनमानस में क्या प्रभाव पड़ा? और उसका क्या महत्त्व रहा। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को जनता कहाँ तक ग्रहण कर सकी, यह तो नहीं कहा जा सकता है, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रचार किए गए पदों का जनमानस में प्रवेश अवश्य हो गया। इस प्रकार भक्ति साहित्य जनता के पास तक पहुंचा। अन्य साधनों के अभाव में जनता तक साहित्य पहुंचाने में इन सम्प्रदायों ने जो कार्य किया वह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

वैष्णव धर्म में अवतार भावना की विशेष मान्यता मिली हुई थी। श्री राम और श्री कृष्ण के अवतार विशेष रूप से उपसना के लिए स्वीकृत थे। इन अवतारों की भावना ने जनमानस की प्रवृतियों को उदात्त रूप देने में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। राम और कृष्ण जैसे ईष्ट देवों को पाकर जनता को अपने विषय, दैनिक जीवन में साकार दैनिक आश्रय मिल गया। श्री कृष्ण की लीलाओं ने अपने नाम के अनुसार सभी को बहुत आकर्षित किया।

वैष्णव भक्ति को विविध रूपों में स्थापित करने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

आचार्य रामानुज ने अवतारी राम को अपनी विष्णु भक्ति का उपास्य देव स्वीकार कर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। उनके मत में ब्रह्म सगुण और सविशेष है। भक्तों पर अनुग्रह

करने के लिये वे पाँच रूप धारण करते है। इन्हीं में अर्चावतार राम की गणना होती है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। दार्शनिक स्तर पर यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है और इस सम्प्रदाय को श्री–सम्प्रदाय भी कहते हैं। रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत में जिस दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, उसका उद्देश्य शंकर के मायावाद का खण्डन करके भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करना था। रामानुज ने ही सर्व प्रथम जीव और ईश्वर में अंश और अंशी सम्बन्ध बताया, आत्म–तत्त्व तथा भगवततत्त्व में पूर्ण साम्य न बताकर आंशिक भेद स्थापित किया, जो भक्ति की भावना के लिये परम आवश्यक था। आचार्य शंकर ने मोक्ष का साधन केवल ज्ञान को स्वीकार किया था और भक्ति को अविद्या या भ्रान्ति कहकर उसकी पूर्ण अवहेलना की थीः किन्तु रामानुज ने शंकर की बात उलटकर भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया और ज्ञान को भक्ति का साधन माना। भक्ति के समस्त भेदों में रामानुज ने दास्यभाव अथवा सेव्य सेवक भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ट कहा और वैकुण्ठवासी विष्णु को अपना आराध्य स्वीकार किया। उपनिषद, गीता आदि में जिस भक्ति को ज्ञान का हेतु कहा गया है, वह सामान्या (साधनरूपा) भक्ति है। प्रेम रूपा भक्ति नहीं है। रामानुज दर्शन के अनुयायी रामानन्द ने अपनी भक्ति परिभाषा में भक्ति को जात और व्यावर्तक धर्मो का ही नहीं, अपितु इसके साधनों अवयवों और उपलक्षणों का भी समावेश किया है। श्रेष्ठ महर्षियों के वचनों के आधार पर उन्होंने बतलाया है कि मानस का नियमन करके अनन्य भाव से भगवद् परायण होकर की गई उपाधि

निर्मुक्त परमात्मा सेवा भक्ति है। वह ईश्वर के प्रति परानुरक्ति है, स्मृति सन्तान रूपा है। तैलधारा की भांति अविच्छिन्न है। इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि रामानुज और रामानन्द दोनों ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा और भक्ति को साधन और साध्य दोनों माना।

रामानुज के बाद द्वैताद्वैत के प्रवर्तक वैष्णव आचार्य निम्बार्काचार्य माने जाते हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से ये रामानुज के अत्यधिक निकट माने जाते हैं। इन्होंने रामानुज के समान चित् अचित् और ईश्वर के भेद को स्वीकार किया है। ईश्वर के सम्बन्ध में रामानुज एवम् निम्बार्क की कल्पना एक सी है। रामानुज की भांति निम्बार्क भी भगवत्–अनुग्रह को सर्वस्व मानते हैं और जीव को प्रपत्ति का उपदेश देते हैं। रामानुज तथा निम्बार्क के उपास्य के स्वरूप में थोड़ा सा अन्तर है। रामानुज लक्ष्मी नारायण (विष्णु) की उपासना पर जोर देते हैं किन्तु निम्बार्क (राधा–कृष्ण) युगल स्वरूप को अपना आराध्य मानते हैं। निम्बार्क स्वामी ने स्वतः निर्धारित किसी सिद्धान्त के आधार पर इस सम्प्रदाय को प्रचलित नहीं किया परन्तु पहले से चले आ रहे सनत कुमार, नारद के आदेशों के आधार पर इसको चलाया। इसी कारण इस सम्प्रदाय का वास्तविक नाम 'सनकादि सम्प्रदाय' हैः परन्तु एतिहासिक प्रतिष्ठाता और प्रारम्भिक प्रचारक श्री निम्बार्काचार्य के होने के कारण इस समय सम्प्रदाय का लोक–प्रसिद्ध नाम निम्बार्क सम्प्रदाय ही है। इसके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय का एक और अन्य नाम भी है जिसे 'हंस सम्प्रदाय' कहते हैं। निम्बार्क

सम्प्रदाय में ही संभवतः सर्वप्रथम राधा की उपासना प्रारम्भ हुई। निम्बार्क राधा को अनुरूप सौभगा मानते हैं। अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। वे राधा को स्वकीया और विवाहिता मानते हैं रामानुज की भक्ति नारायण लक्ष्मी और लीला तक सीमित थी। निम्बार्क की भक्ति में कृष्ण और सखियों द्वारा प्रतिष्ठित राधा प्रधान दिखाई देती हैं और प्रेमलक्षण, रागत्मिका, पराभक्ति साधना का चरम लक्ष्य जान पड़ती हैं। उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्ण श्रेय निम्बार्काचार्य को दिया जाता है।[1] दक्षिण में जन्म लेने वाले निम्बार्क सम्प्रदाय की विकास भूमि-उत्तर भारत की मानी जाती है।

वल्लभाचार्य का भक्ति साधना मार्ग पुष्ट मार्ग कहलाता है। इस पुष्टिमार्गी भक्ति के चार भेद हैं –

1. मर्यादा पुष्टि भक्ति 2. प्रवाह पुष्टि भक्ति 3. पुष्टि पुष्टि भक्ति 4. शुद्ध पुष्टि भक्ति।

मर्यादा पुष्टि भक्ति में भक्त भगवान के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता है। प्रवाह पुष्टि भक्ति में भक्त कर्म में विशेष रूचि रखता है। पुष्टि में भक्त स्नेह सम्पन्न हो जाता है। शुद्ध पुष्टि में भक्त प्रेमपूर्वक हरि की परिचर्चा करता हुआ गुण श्रवण ध्यान आदि में दत्तचित्त रहता है भजन पूजन आदि साधनों के द्वारा प्राप्त होने वाली मर्यादा भक्ति कहलाती है। भगवान के अनुग्रह होने पर ही भगवान की ओर प्रवृत्ति होती है। पुष्टिमार्गी भक्ति में भगवान से

---

1. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डा0 मलिक मोहम्मद पृ0 227

मिलने की उत्कट अभिलाषा होना आवश्यक है। वल्लभाचार्य तीन प्रकार की सेवा का विधान करते हैं – तनुजा, वित्तजा और मानसी। इसमें भी मानसी सेवा को श्रेयस्कर माना गयाहै। श्रीवल्लभ का मंत्र है 'श्री कृष्णः शरणं मम'। शरणागति और अनन्य भक्ति ही बल्लभाचार्य की दृष्टि में भक्त का चरम लक्ष्य है।

नवद्या भक्ति को बल्लभाचार्य स्वीकार करते है लेकिन इन नौ साधनों में आत्म–समर्पण को वे विशेष मानते हैं। आचार्य जी के सबसे बड़े सेवा–स्वरूप श्री गोवर्द्धननाथ जी (श्रीनाथ जी) थे जिनका सदैव ज्ञान और ध्यान अष्टछाप के कवि भी किया करते थे।

वल्लभ सम्प्रदाय में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं का तथा युगल स्वरूप की उपासना का समावेश वल्लभाचार्य के जीवन के उत्तरकाल में और निश्चित रूप से आचार्य जी के पुत्र एवम् शिष्य गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव के साथ माधुर्य भाव की भक्ति का समावेश, तत्कालीन प्रचलित अन्य कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों के प्रभाव से माना जा सकता है। आचार्य जी का विशेष सम्पर्क चैतन्य महाप्रभु तथा उनके अनुयायियों से था। इसका प्रमाण भी बल्लभाचार्य की जीवनी 'निज वार्ता' तथा 'वल्लभ दिग्विजय' आदि ग्रन्थों में मिलता है। इससे सम्भव है कि आचार्य जी को कृष्ण की मधुर भक्ति की प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु से मिली हो। श्री गोकुल नाथ जी, श्री हरिराय जी आदि बाद के वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने भक्ति का फल मोक्ष अथवा लौकिक वैभव प्राप्ति नहीं

माना। उनके लिए भी भक्ति का साधन भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेमावस्था ही रही।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के अनन्तर हम कह सकते हैं कि वल्लभाचार्य जी, श्री विट्ठलनाथ जी, श्री गोकुलनाथ जी तथा श्री हरिराय आदि वल्लभ सम्प्रदाय के इन चार आचार्यो ने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवत्गीता, महाभारत, शाण्डिल्य भक्ति- सूत्र, नारद भक्ति सूत्र और पांचरात्र आदि भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर तथा तत्वकालीन प्रचलित माध्व, गौड़ीय, राधाबल्लभीय तथा हरिदासी आदि कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों से प्रभावित होकर जिस भक्ति का प्रचार किया, उसमें भक्ति के सभी व्यापक भाव वात्सल्य, दास्य, सख्य, कान्ता तथा नारद भक्ति सूत्र में बताई गई ग्यारह आसतिक्तयाँ सभी का समावेश हो गया। किन्तु इस सम्प्रदाय में आचार्य वल्लभ द्वारा निर्दिष्ट वात्सल्य भाव और पुष्टिमार्गीय उपासना द्वारा मान्य भगवद्-अनुग्रह की ही प्रधानता अन्त तक बनी रही। यद्यपि अन्य कृष्ण सम्प्रदायों, माध्व, राधा वल्लभीय, गौड़ीय, हरिदासी आदि में मधुर भाव की ही एकमात्र उपासना अन्त तक सर्वोपरि रही।

अष्टछाप के कवियों की भक्ति का जो स्वरूप तथा इस विषय में उनके जो विचार उनकी रचनाओं में हमें मिलते हैं, उन पर वल्लभ सम्प्रदाय के मत का ही स्पष्ट प्रभाव है। जहाँ इन कवियों ने अपने उपास्थ देव कृष्ण की लीलाओं को वात्सल्य, सख्य और दास्य तथा कान्ता भाव से वर्णन किया है, वहां सर्वत्र उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्त्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है। कृष्ण की बाल

चेष्टाओं तथा अन्य भावों का स्वाभाविक चित्रण करते हुए वे उनके ईश्वर भाव को प्रकट करना नहीं भूलते। इस लिये वे बार-बार याद दिला देते है कि बालवत् तथा किशोर लीला भगवान की है, मनुष्य की नहीं।

सम्प्रदाय निरपेक्ष कवियों या कवियित्रियों में मीरा बाई का स्थान सर्वोपरि है। मीरा बाई दार्शनिक मतभेदों से दूर रहकर शुद्ध भक्ति की साधना करना चाहती थीं, फलस्वरूप उनकी यह एकान्तिक एवम् व्यक्तिगत प्रेम साधना भावात्मक स्तर पर माधुर्य भाव का रूप धारण कर लिया, किन्तु आराध्य के प्रति तन्मय होकर गुणगान करने से आराध्य के ऐश्वर्यशाली स्वरूप या उसके ब्रह्मत्त्व की प्रतिष्ठा स्वमेव हो गई।

मीरा ने परब्रह्म को सगुण और निर्गुण एक साथ दोनों माना है। उन्होंने श्रीकृष्ण को अविनाशी की संज्ञा दी है और बताया है कि भगवान कृष्ण मेरे हृदय में सदैव निवास करते हैं : सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, जल, आकाश का नाश हो जायेगा, किन्तु कृष्ण स्थिर रहेंगे[1]। मीरा बाई भगवान कृष्ण के ऐश्वर्यशाली सगुण रूप पर मुग्ध हैं और उन्हें मोर मुकुट, कुण्डल, मुरली आदि से सुशोभित साकार रूप प्राप्त करना चाहती है[2]। भगवान कृष्ण के सगुण रूप के अतिरिक्त उनके निर्गुण स्वरूप का कथन भी मीराबाई के पदों में मिलता है। इसका कारण मीराबाई पर निर्गुण सन्त मत का प्रभाव

---

1. मीरा बाई की पदावली, सं0 परशुराम चतुर्वेदी पृ0 8
2. मीरा बाई की पदावली, सं0 परशुराम चतुर्वेदी पृ0 8

माना जा सकता है। मीरा के प्रियतम के सेज गगन मण्डल में बिछी रहा करती है[1]। मीरा अपने साध्य को 'त्रिकुटी' महल में बने झरोखे से झांका करती हैं, सुन्न महल में सूरत जमाने का सुख की सेज बिछाने के लिये आतुर जान पड़ती हैं[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा बाई ने जहाँ एक ओर वैराग्य साधने का उपदेश दिया है। उसी पद में भगवान से प्रेम करने के लिए भी कहा है उनके आराध्य कृष्ण एक ओर जहाँ सन्तों के निर्गुण बह्म के निर्विशेषत्त्व से विभूषित हैं तो दूसरी ओर सगुण ब्रह्म के सविशेषत्त्व से। किन्तु इन दोनों में मीरा को कृष्ण के सगुण स्वरूप में ही विशेष आस्था है । जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है। ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूप उपनिषादों से ही मान्य रहें है। शंकराचार्य केवल निर्गुण ब्रह्म को मीराबाई की और रामानुज तथा बल्लभाचार्य ने केवल सगुण ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य माना है। तुलसीदास ने इन दानों रूपों को परमार्थतः सत्य माना है[3] और दोनों में अभेद भी स्थापित किया है[4]। वास्तव में ब्रह्म निर्गुण है परन्तु वही निर्गुण ब्रह्म राम के रूप में देह धारण करके अनेक लीलाएँ किया है[5]। इस प्रकार तुलसीदास ने निर्गुण ब्रह्म और अपने ईष्टदेव राम का तादात्म्य स्थापित किया है और उनको वेदोक्त ब्रह्म सिद्ध

---

1. मीरा बाई की पदावली, सं0 परशुराम चतुर्वेदी पृ027
2. सुन्न महल में सूरत जमाऊं, सुख की सेज बिछाऊंगी
   मीरा बाई की पदावली, सं0 परशुराम चतुर्वेदी पृ05
3. अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
   अकथ अगाध अनादि अनूपा।।
   रामचरितमानस, बाल0 23/1
4. सगुनहिं अगुनहिं नहि कुछ भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
   रामचरितमानस, बाल0 पृ0 116
5. एक अनीह अरूप अनामा अज सच्चिदानन्द पर धामा।
   व्यापक विश्व रूप भगवाना, तेइ घर देह चरित्र कृतनाना।
   रामचरितमानस, बाल013

किया है। राम ही परमेश्वर और समस्त चेतना के मूल स्रोत हैं। वे ही मायाधीश और जगत को प्रकाशित करने वाले हैं। जो ब्रह्म निर्गुण और निरंजन है वही प्रेम भक्ति के कारण राम रूप में कौसल्या की गोद में खेल रहा है[1]। वही निर्गुण भक्तों के लिए साकार होकर लीलाएँ करता है[2]। दशरथ और कौसल्या के पुत्ररत्न ही जिनके परमोपास्य हैं ऐसे तुलसीदास भी निर्गुणोपासक कवियों की भांति कहते हैं कि ब्रह्म बिना पैरों के चलने में समर्थ हैं बिना श्रवणेन्द्रिय के सुनने को सामर्थ्य से युक्त है, बिना हाथों से अनेक प्रकार के कर्म करता है उसके मुख नहीं है परन्तु समस्त रसों का उपभोग करने में वह समर्थ है, उसके पास वाणी नहीं है, पर वह महान वक्ता है, बिना शरीर के वह स्पर्श कर सकता है, बिना नेत्रों के देख सकता है, बिना श्रवणेन्द्रिय के समस्त सुगन्धियों का उसे ज्ञान हो जाता है[3]। तुलसीदास ब्रह्म को अलख अविनासी कहते हैं। तुलसीदास ब्रह्म के निर्गुन रूप को सुलभ कहा है, सगुन को दुर्लभ माना है। तुलसी ने परम सगुणवादी होते हुए भी अनेकानेक स्थलों पर ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। तुलसीदास ने ब्रह्म के निर्गुन स्वरूप का कथन करते हुए उसका पर्यवसान सगुण ब्रह्म में ही किया है और घोषित किया है कि

---

1. व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
   सो अज प्रेम भक्ति वस कौसल्या के गोद।
   राम चरितमानस, बाल0, पृ0 198
2. व्यापक अकल अनीह, आज निर्गुन नाम न रूप।
   भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप।।
   रामचरिममानस, बाल0 पृ0 205
3. बिन पद चलै सुनै बिन काना। कर बिनु करम करै विधि नाना।
   आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
   तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घान बिनु बास असैखा।
   रामचरितमानस, बाल0 का0 118, पृ0 63 पं0सं0- 10-13

वास्तव में निर्गुण ब्रह्म साकार राम ही हैं। जहां उन्होंने ब्रह्म का पूर्ण सगुणत्त्व घोषित किया है, वहां तुलसी के सगुण ब्रह्म राम रामानुज के ब्रह्म की भांति पूर्ण सगुण ब्रह्म हैं। उनके अमित गुण हैं किन्तु ये गुण प्राकृत न होकर अप्राकृत हैं। वे स्वभाक्तः करूणामय हैं उनकी यही करूणा अहैतुकी है। वे अवतार धारण करते हैं उनके अवतार धारण का एक मात्र प्रयोजन है, भक्त का कल्याण और द्रुष्टों तथा असुरों का संहार कर सज्जनों का कष्ट हरण करते हुए ब्राह्मण, पृथ्वी और गो का उद्धार करना[1]। ने तीनों ऐश्वर्य विभूतियों शील, शक्ति और सौन्दर्य से पूर्ण हैं वे नारायण के षट्गुणों- ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज से युक्त हैं। वे अनाथों के नाथ और अशरण के शरण हैं। भगवान राम ने सगुण साकार रूप धारण करके मनुष्यों की तरह अनेक लीलाएं किया है। भगवान के इस स्वरूप को काग-भुशुण्डि गरूड़ को समझाते हैं। विनय पत्रिका में भी भगवान राम के निर्गुन सगुण दोनों स्वरूपों का स्पष्ट कथन मिल जाते हैं। जिस प्रकार तुलसीदास के इष्टदेव भगवान राम थे किन्तु उन्होंने धार्मिक उदारता के कारण विष्णु के अन्य अवतारों के प्रति भी विशेष रूप से कृष्णावतार के प्रति आस्था व्यक्त की है और कृष्ण गीतावली लिखकर श्री कृष्ण को उसी प्रकार ब्रह्म घोषित किया है जिस प्रकार अपने समस्त ग्रन्थों में राम को ब्रह्म सिद्ध किया है। तुलसी के अनुसार राम और कृष्ण एक ही ब्रह्म के शक्ति के दो नाम हैं। ठीक उसी प्रकार सूरदास के

---

1. जब जब होइ धरम के हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।
राम चरितमानस, बाल0 पृ0121

इष्टदेव परब्रह्म श्रीकृष्ण थे किन्तु श्री कृष्ण के साथ सूरदास ने भगवान राम का भी ब्रह्म के अवतार के रूप में पर्याप्त वर्णन किया है। सूरसागर के नवम् स्कन्ध में राम कथा पूर्ण तन्मयता से विस्तार के साथ वर्णित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मध्यकालीन कृष्ण और राम दोनों धाराओं के कवियों ने अपने-अपने इष्टदेव राम और कृष्ण को अद्वैत तथा परब्रह्म सिद्ध किया है इसका कारण उक्त दोनों धाराओं के कवियों का वेदान्त की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध या प्रभावित होना है। अद्वैतता के उभयनिष्ठ होंने के कारण दोनों शाखाओं में इष्टदेव परब्रह्मत्त्व में पर्याप्त साम्य है।

ख- लीलाः-

लीला का शाब्दिक अर्थ है लय की दशा जहां पर विषयी और विषय का तादात्म्य हो जाता है और यह तादात्म्य अंत में 'विलय' की दशा तक पहुंच जाता है। यही कारण है कि कृष्ण लीलाएं जीवात्मा और परमात्मा के विलय की वह दशा है, जहां आनन्द की मनोदशा प्राप्त होती है। इसी से स्वामी विवेकानन्द ने लीला को 'लय योग' की संज्ञा दी है[1]।

लीला वास्तव में पौराणिक तत्त्व है परन्तु इसका मूल रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। सूक्ष्म विचार के द्वारा ऋषियों ने जगत के माध्यम से उस परोक्ष सत्ता के विलास को जान लिया था।

---

1. प्रतीक दर्शन, डा० वीरेन्द्र सिंह, पु० 35, प्रथम संस्करण 1977

पुराणों ने ब्रह्म और उसकी शक्ति के इस तत्त्व को साकार रूप प्रदान किया।[1] उपनिषदों में एक ओर जहां ईश्वर के निर्गुण और निराकार स्वरूप का चिन्तन हैं वहीं दूसरी ओर उसमें सगुण और साकार रूप की भी सद्भावना हुई। वहां ब्रह्म जहां 'नेति नेति' है वहीं 'रसो वै सः' भी है। वस्तुतः उक्त दोनों वृत्तियों में बाह्यतः भेद दीख कर भी तात्त्विक अन्तर्भेद नहीं है। वेदान्तियों ने इनमें सामन्जस्य बिठलाने के लिये ही 'लीला' तत्त्व का अनुसंधान किया था। ''लीला में आकर अक्षर ब्रह्म चर रूप में बहुमुखी विकास प्राप्त करता है फिर वह मानवीय चेतना के विविध अभियानों की ओर अग्रसर होता है। वह अपने दिव्य कार्यों के द्वारा एक प्रकार से मानवीय शक्ति की ओर संकेत करता है[2]। भगवान सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं। लीला भगवान के आनन्द स्वरूप का प्रकाश है। आनन्द बिना रस के संभव नहीं होता। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित हुआ है कि ब्रह्म रस स्वरूप है अर्थात् आनन्द स्वरूप है 'रसो वै सः'। 'रसं ह्येवायं लव्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'[3] तथा उनके इस आनन्दमय स्वभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृति हुई। तैत्तिरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्दी वल्ली में ब्रह्म के आविर्भाव की चर्चा करते हुए कहा गया है कि इससे पहले केवल असत् था। उससे सत् उत्पन्न हुआ, उसने स्वयं को अभिव्यक्त किया, इसीलिये उसे सुकृत कहा जाता है। यह जो 'सुकृत' है वही रस

---

1. कृष्ण भक्तिकाल में सखीभाव, डा0 शरण बिहारी गोस्वामी, पृ0 89
2. प्रतीक दर्शन, डा0 वीरेन्द्र सिंह, पृ0 35
3. तैत्तिरीय उपनिषद, 217

है। इससे यह बात प्रकट होती है कि वह रस विशुद्ध परात्पर तत्त्व है। दूसरे यह कि यह रस मूर्तिमान रस है, व्यक्तितत्त्व है। 'सः' तो किसी पुरूष के लिए प्रयुक्त होता है। यह रस पुरूष, रस मूर्ति, रस प्राप्त करता है। कहाँ से प्राप्त करता है? इसका उत्तर श्रुति ही यह देती है कि वह स्वयं को द्विघां विभक्त करता है। परस्पर के सम्बन्ध से कीड़ा से ही रस प्राप्त होता है। इस परस्पर के सम्बन्ध का नाम प्रेम है। प्रेम का परस्पर जो आस्वाद है, वही रस है।[1] अपनी अप्राकृतता के कारण यह प्रेम अपने प्रत्येक स्वरूप में रस कहा जा सकता है। श्रुतियों ने इसीलिए इस परात्पर रूप को रस कहा है। यह रस अपने आप में सर्वदा सर्वथा पूर्ण हैं। कितना भी इसमें से निकाल लिया जाय, यह पूर्ण ही रहेगा। पूर्णत्त्व की परिभाषा यही है। श्रुति कहती है – जिस प्रकार घटने के अवस्था में पूर्ण ही रहता है, उसी प्रकार निरन्तर प्राप्त करते रहने पर भी वह पूर्ण रहता है अर्थात् पूर्णता की पूर्ण अवधि होने पर भी पूर्णता पूर्ण होने के लिए आकुल रहती है।[2] इसलिये यह परात्पर पूर्णत्व रस भी रसमय होने के लिए रस को प्राप्त करता रहता है। यही पूर्ण काम की कामना है; आनंद का आनंद है, रस की सरसता है। इसीलिए "रसो वै सः" के आगे कहा गया है 'रसं ह्येबायं लव्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। वह रस है रस को प्राप्त करके आनन्दित होता रहता है। सिद्ध है कि रस का स्वभाव लीलामय है। समस्त लीला व्यापार ही आलौकिक लीला-कैवल्य रूप में भाव का

---

1. कृष्णभक्ति काव्य में सखीभाव, डा0 शरणबिहारी गोस्वामी, पृ0 219
2. वृहदारण्यकोपनिषद 2,5,19

खेल है। जो सब भावों से अतीत है, वही फिर सर्वभावमय है अर्थात् महाभावमय है। कौन खेलता है? किसके साथ खेलता है? कब खेलताहै? कहां खेलता है? यह खेल देखता है कौन? क्यों ऐसा खेल खेलता है? ये सब प्रश्न चिन्ताशील मनुष्य के मन को अवश्य आलोड़ित करते हैं। वस्तुतः एक अद्वय अखंड तत्त्व ही विद्यमान है। वह स्वतंत्र एवम् परमानन्द स्वरूप है। वही खेल करता है, क्योंकि आनन्द का स्वभाव ही खेलना है, क्रीड़ा करना है। इसीलिए यह आप्तकाम और स्पृहाहीन होने पर भी स्वभाववश होकर लीला अथवा क्रीड़ामग्न रहता है। वह स्वयं एक से अनेक बन जाता है, अनन्त रूप धारण करता है, अनन्त भावों के अनुगुण अनन्त रूप धारण करता है - पुरूष होता है, प्रकृति होता है, सब कुछ होता है। एक दृष्टि से जो असंग पुरूष है, दूसरी दृष्टि से वही प्रेममय होकर सब के साथ विभिन्न सम्बन्धों से सम्बद्ध होता है।[1]

श्रीकृष्ण लीला भारतीय बाङमय में कब और किन स्थितियों में शुरू हुई एवं कैसे-कैसे उसका विस्तार सामने आया, यह उतना ही रोचक है, जितना उसके प्रति मानवीय प्रज्ञा एवम् हृदय का आकर्षण। वास्तव में श्री कृष्ण के अवतरण के साथ ही लीला विलास का कम इस प्रकार आ जुड़ा कि उन्हें उस युग के एवं उनके उत्तर कालीन महापुरूषों एवम् महान ग्रन्थों में उन्हें लीला पुरूषोत्तम एवम् उनके चरित्र को चरित्र न कहकर लीला कहा गया। जिसका सीधा सा

---

1 रामभक्ति में रासक सम्प्रदाय, डा0 भगवती प्रसाद सिंह, भूमिका, गोपीनाथ कविराज, पृ0 12

तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण वह परात्पर सत्ता है, जिसने करूणावश धरती पर अवतरित होना स्वीकारा। अतएव वे धरती के मानवों पर लगने वाले सिद्धान्तों एवम् सीमाओं से तो मुक्त रहे ही साथ उनका चरित्र भी उनकी इसी प्रवृत्ति को प्रमाणित करता है। इस प्रकार लीला पुरूषोत्तम श्री कृष्ण की लीला स्वयं उनके अवतरण के साथ ही शुरू हो गई, लगती है। पुरातन ग्रन्थों से विदित होता है कि जब वे 9-10 वर्ष के थे तब महारस प्रसंग में गोपियों ने उनके अति मानवीय चरित्रों का अनुकरण रास मण्डल में ही अपनी बिरहावस्था में किया था -

" लीला भगवतस्तास्ता हानुचक्रुस्तदात्मिकाः "।।[1]

भगवत की यह उक्ति इस बात पर भी सही करती है कि श्री कृष्ण का चरित्र स्वयं लीलात्मक है, जिसका उन्होंने (गोपियों) अनुकरण किया। इस रूप में श्रीकृष्ण लीला का प्रारम्भ किसी न किसी रूप में उनके जीवन काल में हो गया था, इस बात में संशय के लिए बहुत कम स्थान है।

श्री कृष्ण का चरित्र विविध मुखी है। अतः उसका आधार मानकर जो काव्य लिखा गया उसकी एक सुदीर्थ परम्परा मिलती है। भारतीय बाङमय में कृष्णकाव्य की परम्परा बड़ी प्राचीन है। उसके स्रोत वैदिक संहिताओं, पुराणों, इत्यादि तक में मिलते हैं। भारत की अधिकांश भाषाओं की पोषणकर्ती संस्कृत भाषा के काव्य साहित्य का बहुत बड़ा भाग कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त

---

1. श्रीमद्भागवत 10,30,14

अनेक भारतीय भाषाओं में कृष्ण लीला पर आधारित काव्यों की दृष्टि हुई है। हिन्दी साहित्य में कृष्ण लीला परक काव्यों का पूर्ण विकास सोलहवीं शताब्दी में प्राप्त होता है। यहां उन कृष्ण लीला परक काव्यों का क्रमिक उल्लेख अप्रासांगिक न होगा।

विश्वसाहित्य में वेदों को प्राचीनतम ग्रन्थ माना गया है।[1] भारतीय परम्परा में वेद अपौरूषेय है, ईश्वर के निःस्वास है और वे सृष्टि की उत्पत्ति के साथ प्रकट हुए हैं।[2] अतः वैदिक साहित्य में कृष्ण लीला के स्रोत ढूंढ़ना किसी भी प्रकार निराधार और असंगत नहीं है। यद्यपि श्री कृष्ण वेदों की रचना के बाद अवतीर्ण हुए हैं, किन्तु फिर भी यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि कृष्ण का प्रमाण वेद ही माना जाता है।[3] वेद के 'गोपी' और 'ब्रज' शब्दों को लेकर गोपलीला प्रारम्भ होती है।[4] इसकी चरमावस्था रसलीला में दिखाई पड़ती है।[5] आचार्य गुलाब राम वैदिक काल में कृष्ण की प्रसिद्धि स्वीकार करते हैं और गोपाल कृष्ण सम्बन्धी मनमोहक कथाओं का बीज वैदिक मंत्रों से मानते हैं। राय चौधरी ने भी कृष्ण लीलाओं का बीज वैदिक मंत्र में सिद्ध किया है।[6] अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि वैदिक साहित्य में कृष्ण लीला का सूत्र अवश्य ही विद्यमान हैं। भारतीय

---

1. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठिभूमि –डा० गिरधारी लाल शास्त्री, पृ०29
2. ऋगवेद 10/90/9 यजुर्वेद 31/7 अथर्ववेद 10/7/20 वृहदास्योपनिषद 2/4/10
3. सूर की झांकी –डा० सत्येन्द्र पृ० 29
4. भारतीय साधना और सूर साहित्य –डा० मुंशीराम शर्मा पृ०170
5. वही, पृ० 149
6. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठिभूमि – डा० गिरिलाल शास्त्री पृ० 30

बाङ्मय में महाभारत ग्रन्थ का विशेष स्थान है यद्यपि इसमें मुख्य रूप से कौरवों और पाण्डवों से सम्बन्धित वृतान्त ही हैं तथापि श्री कृष्ण चरित्र की प्रायः सभी प्रमुख लीलाएँ उसमें विद्यमान हैं। भारतीय धर्म में पुराण साहित्य का विशेष स्थान है। पुराण शब्द से ही इस साहित्य की प्राचीनता सिद्ध होती है। अथर्ववेद में वेदों के साथ ही पुराण का उल्लेख मिलता है।

अवतारवाद पुराण साहित्य का प्रधान अंग है। अतः पुराणों में ब्रह्म के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप का ही अधिक विवेचन है। यद्यपि पुराणों में ब्रह्म के अनेक अवतारों का वर्णन है, किन्तु सर्वाधिक वर्णन कृष्णावतार का ही है। पुराण साहित्य में कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र और उनकी समस्त लीलाओं का वर्णन मिलता है। यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र अठारहों पुराणों में, कम या अधिक मात्रा में मिलता है, किन्तु उसका विशद विवेचन विष्णुपुराण, पदम पुराण, हरिवंश पुराण, भागवत पुराण, और ब्रह्मवैवर्त पुराण में हुआ है।[1] इस पुराण साहितय ने समस्त मध्यकालीन कृष्ण भक्ति साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है।[2] अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में कृष्ण लीला के सूत्र विद्यमान हैं।

संस्कृत भाषा के काव्य और नाटक ग्रन्थों में कृष्ण काव्य की परम्परा ईसा के पूर्व काल से ही मिलती है। लौकिक संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम महाकाव्य लिखने का श्रेय महावैयाकरण

---

1. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठिभूमि, डा0 गिरधारी लाल शास्त्री, पृ04
2. सूर और उनका साहित्य, डा0 हरवंश लाल शर्मा, पृ0 296

पाणिनि को दिया जाता है।[1] इनके महाकाव्य का नाम 'जाम्बवती जय' है जिसे पाताल विजय भी कहते हैं। इस महाकाव्य में जाम्बवती को लाने के लिए श्री कृष्ण के पाताल जाने और वहां विजय प्राप्त करने का वर्णन है। यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है, किन्तु परवर्ती ग्रंथकारों के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में कम से कम अट्ठारह सर्ग अवश्य थे।[2] पाणिनि का समय ईसा से लगभग 700 वर्ष पूर्व है।[3]

पंतजलि के महाभाष्य में 'बलिबंध' और 'कंस-वध' नाटकों का उल्लेख मिलता है जो उसके समय में प्रचलित थे। उनका कथन है कि कंस-वध नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते थे। और कृष्ण के अनुयायी अपना मुख लाल रंग से रंग कर अभिनय करते थे। इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि विक्रम के पूर्व द्वितीय शतक में कृष्ण लीलाओं का अभिनय भी होता था।[4]

महाकति भास के नाटकों में कृष्ण लीला सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री मिलती है। उनका समय लगभग ईसा पूर्व प्रथम शतक है।[5] महामहोपाहयाय गणिपति शास्त्री ने सन् 1912 ई0

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, तृतीय संस्करण पृ0 143
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास- बलदेव उपाध्याय पृष्ठ 144
3. वही, पृष्ठ 146
4. वहीं, पृष्ठ 389-390
5. भारतीय साधना और सूर साहितय-डा0 मुंशीराम शर्मा पृ0 171

में भारत के 13 नाटकों की खोज की और उन्हें प्रकाशित किया। भास के बाल चरित[1] नाटक में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। भास के छः नाटकों की कथावस्तु का आधार महाभारत है, अतः उनमें भी प्रसंगवश कृष्ण चरित आ गया है। इन नाटकों के नाम ये है- पंचरात्रम्, मध्यम आयोग, दूतवाक्यम्, कर्णभारम्, अरूभंगम और दूतघटोत्कचम्।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपाल कृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है। "ख्यातानि कर्माणि च यानि सोरेः शूरादयस्तेष्यवला वमूकः।" कालिदास ने "गोप वेषस्य विष्णोः" की चर्चा की है।[2] कालिदास के रघुवंश महाकाव्य में श्रीकृष्ण के साथ वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना और मथुरा का प्रशंसात्मक शब्दों में वर्णन है।[3] भट्टनारायण के 'वेणी संहार' नाटक में राधा कृष्ण के प्रेम का वर्णन है।[4] इनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है[5] महाकवि माघ के "शिशुपालवध" नामक महाकाव्य में श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा का वर्णन है। इसमें श्रीकृष्ण के जीवन की अनेक लीलाओं का वर्णन है। माघ का समय लगभग 700-800 ई0 है।[6] ईसा की नवीं शताब्दी में ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में कृष्ण-राधा प्रेमविषयक श्लोक मिलते

---

1. भास नाटकचक्रम-सम्पादक सी0 आर0 देवधर, आरीयंटल बुक एजेन्सी पूना, पृ0 सं0389
2. मध्य कालीन धर्म साधना -डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0 118
3. रघुवंश 6/49-51
4. वेणी संहार, प्रथम अंक श्लोक 2
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ0 450
6. वही, पृ0 225

हैं।[1] दशवीं शतीं का एक प्रसिद्ध मुक्तक ग्रन्थ है– ''कवीन्द्र वचन समुच्चया'' इस संग्रह में राधा–कृष्ण प्रेम विषयक कई पद्य संकलित है।[2] ग्यारहवीं शताब्दी में लिखित क्षेमेन्द्र के 'दशावतारचरित' में कृष्ण लीलाओं का वर्णन है और उसमें राधा का भी उल्लेख है। बारहवीं शताब्दी में जयदेव की 'गीतगोविन्द' में राधा–कृष्ण की लीलाओं पर आधारित एक पूर्ण विकसित काव्य का स्वरूप मिलता है।

लीलाशुक विल्वमंगल ठाकुर रचित 'कृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ को भी बारहवीं शताब्दी के आस–पास लिखा माना जाता है। इस ग्रन्थ में श्री कृष्ण के लीलाओं के साथ राधा का भी वर्णन है।

प्राकृत साहित्य में जिन ग्रन्थों में कृष्ण काव्य उपलब्ध होता है, उनमें हाल की 'गाहा सतसई'[3] विशेष प्रसिद्ध है। हाल की गाहा सतसई में कृष्ण की ब्रजलीला से सम्बन्धित कई पद संकलित है। 'प्राकृत पेंगुलम' नामक प्राकृत छंद के ग्रन्थ में राधा कृष्ण लीला से सम्बन्धित छन्द मिलते है। इनका रचनाकाल 14वीं सदी के आस पास माना जाता है।

अपभ्रंस साहित्य में कृष्ण चरित का वर्णन आठवीं शताब्दी के स्वयंभू कवि के 'अरिष्टनेमिचरित' या 'हरिवंश पुराण' में मिलता है।[4] इसमें जैन धर्म में प्रचलित कृष्ण और पांडवों की कथा का वर्णन विस्तारपूर्वक दिया हुआ है।[5] अपभ्रंस साहित्य में कृष्ण सम्बन्धी

---

1. ध्वन्यालोक, 2/5
2. हिन्दी काव्य में कृष्ण चरित का भावात्मक स्वरूप विकास –डातपेश्वरनाथ पृ0 167
3. गाथा सतसई निर्णय सागर प्रेस, बम्बई–संस्करण व चौखम्बा संस्करण।
4. हिन्दी काव्य धारा भूमिका– राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 50
5. डा0 हरिवल्लभ चूनीलाल मायाणी द्वारा सम्पादित 'पउम चरिउ' प्रथम भाग की भूमिका, भारतीय विद्या भवन बम्बई से प्रकाशित विक्रम संवत् 2009 पृ0 16

प्रमुख काव्य रचना पुष्पदन्त कवित का 'महापुराण' है जिसमें कृष्ण जीवन का विशद चित्रण है। पुष्पदन्त का काव्य काल 959-72 ई0 है।[1] यह दशवी शती के जैन कवि थे। अतः उनके 'महापुराण' में कृष्ण कथा का दशवीं शती का रूप मिलता है। बारहवीं शताब्दी में हेम चन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंस के दोहों में कुछ ऐसे दोहे हैं जिसमें राधा कृष्ण सम्बन्धी कथायें है। हरिभद्र सूरि के पद्य में कृष्ण सौन्दर्य का वर्णन है।[2] इस विवेचन के आधार पर यह असंदिगध रूप से कहा जा सकता है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों में श्री कृष्ण लीला गान की प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी।[3]

विभिन्न भारतीय भाषाओं में कृष्ण लीला काव्यः-

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंस के अतिरिक्त भारत की अन्य कई भाषाओं में कृष्ण काव्य मिलता है। तमिल भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दिव्य प्रबन्धम्' में विष्णु के कृष्णावतार की वृन्दावन लीला का नाना प्रकार से उल्लेख है। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक तमिल भाषा में महाभारत और पुराणों के अनुवाद किए गए। इनमें विल्लिपुत्रार का महाभारत अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन सभी ग्रन्थों में कृष्ण की लीलाओं का बड़ा सरस मधुर और विशद वर्णन मिलता है। तेलगू भाषा में उसके आदि कवि नन्नय भट्ट ने महाभारत ग्रन्थ लिखा। निक्कण सोमयाजी ने 'महाभारत; नाचन सोमयाजी ने 'हरिवंश' और पोतन्ना ने भागवत की रचना की। इन सभी ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के

---

1. हिन्दी काव्य धारा भूमिका-राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 59
2. वही, पृष्ठ 388
3. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 108

चरित्र का वर्णन है। लोकप्रिय कवि पोतन्ना ने 'भागवत' और कृष्ण लीला आदि काव्य ग्रन्थों की रचना करके कृष्ण चरित काव्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। मलयालम भाषा में श्री कृष्ण भक्त कवियों में चेरूस्सेरी नंबूद्री और तुन्जन विशेष प्रसिद्ध है। चेरूस्सेरी के 'कृष्ण गाथा' नामक काव्य ग्रन्थ में वात्सल्य और श्रृंगार रस का प्राधान्य है। यह ग्रन्थ ब्रजभाषा के सूरसागर टक्कर का है। मलयालम भाषा के 'भागवतम्' और 'भारतम्' ग्रन्थों में कृष्णचरित का बड़ा सरस वर्णन है।[1] कन्नड़ भाषा में पन्द्रहवीं शदी में श्री पादराय ने भ्रमरगीता, वेणुगीता, और गोप गीता में श्री कृष्ण की लीला का सरस भक्ति भावों से पूर्ण वर्णन किया मराठी भाषा में महानुभावों और बारकरी भक्तों की रचना में कृष्ण काव्य मिलता है। महानुभावों पंथ के प्रचारक श्री कृष्ण के उपासक समझे जाते हैं।

गुजराती भाषा में नरसीमेहता के पदों में हिन्दी के अष्टछाप कवियों की सी कृष्ण विषयक श्रृंगारिक भक्ति मिलती है।[2]

उत्कल भाषा में सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जगन्नाथ दास ने भागवत पद्यानुवाद लिखकर उतनी ही ख्याति और लोकप्रियता प्राप्ति की जितनी व्यास जी ने प्राप्त की थी। उसी समय शारदादास ने महाभारत और अच्युतानन्द में हरिवंश के काव्यानुवाद किए। यशोवन्त ने 'गोविन्द चन्द्र गीता' ब्रह्मगीता, प्रेमभक्ति और रास आदि ग्रन्थों की रचना की। कार्तिकदास ने 'रूक्मिणी विभा' और

---

1. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठिभूमि - डा0 गिरधारी लाल शास्त्री पृ0 सं0 12
2. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखा-परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ 13

सदाशिव ने 'रस कल्लोल' नामक उत्कृष्ट, मनोहर काव्य ग्रन्थ की रचना की। इसमें राधा कृष्ण के विलास का वर्णन है और यह ग्रंथ उत्कल भाषा का कंठहार है।[1]

आसामी भाषा में महाकवि शंकरदेव ने अपनी प्रतिभा से भागवत का महान काव्यानुवाद किया। रामसरस्वती ने महाभारत का अनुवाद किया। शंकरदेव महाकवि चैतन्य के समकालीन थे। उन्होंने श्री कृष्णचरित का आलंवन लेकर बहुत पदों की रचना की। शंकरदेव के प्रधान शिष्य माधवदेव ने कृष्ण लीला विषयक बहुत से पद्य लिखे। ये कवि सगुणोपासक थे। उन्होंने भी कृष्ण के बालरूप को विशेष महत्त्व प्रदान किया और उनकी विविध लीलाओं का वर्णन करने में हिन्दी के सूर के समान प्रयत्न किया।[2]

बंगला भाषा में पन्द्रहवीं शताब्दी में मालाधर ने 'कृष्णलीला' काव्य की रचना की। यह कृष्णलीला विषयक सर्वप्रथम बंगला काव्य है। लगभग उसी समय महाकवि चण्डीदास ने 'कृष्ण भक्त पदावली' के पद साहित्य की रचना हुई। महाप्रभु चैतन्य पर चंडीदास के इन भक्तिभाव भरे पदों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा था। चंडीदास के पदों में राधाकृष्ण की लीलाओं का अत्यन्त मधुर और सरस वर्णन मिलता है।

कृष्ण लीला के विकास की ये ही वे सरणियां हैं जिनसे होकर 16वीं सती के सूर आदि श्रेष्ठ ब्रज कवियों की पदावली

---

1. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाये– परशुराम चतुर्वेदी– पृ0 9
2. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाये– परशुराम चतुर्वेदी– पृ0 14

में इसके भावात्मक स्वरूप का विन्यास हुआ। आचार्य शुक्ल ने बाल कृष्ण और राधाकृष्ण की मधुरलीलाओं के विस्तृत विन्यास को देखते हुए सूरदास को इस भाषा परम्परा का प्रथम कवि नहीं माना था उनके पीछे देशभाषा काव्य की विशाल काव्य सम्पदा का जो अनुमान हुआ था, वह आधुनिक शोधों के आलेक में पूर्णतः सत्य सिद्ध हो चुका है।[1] मध्य युग के भक्ति आन्दोलन की ये ही पृष्ठिभूमियां हैं।

कृष्ण लीला के विकास में मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का प्रबल स्वर है इस आन्दोलन के सूत्रधार दक्षिण के वैष्णव आचार्य हैं।

हिन्दी साहित्य में कृष्णलीला काव्य का पूर्ण विकास सोलहवीं शताब्दी में हुआ। वह कृष्ण काव्य का स्वर्णिम युग था। उस युग के काव्य में जो माधुर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सोलहवीं शताब्दी का कृष्ण काव्य प्रमुखतया साम्प्रदायिक धाराओं में प्रवाहित हुआ हैं। अधिकांश कवि किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष की चेतना स्वीकार करते चले हैं। प्रस्तुत काल में श्रीकृष्ण की विभिन्न लीला भंगियों पर बल देने के कारण निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य कृष्णभक्ति सम्प्रदाय पनपे- राधा वल्लभ सम्प्रदाय और सखी सम्प्रदाय। पर समूचे कृष्ण लीला काव्य में अष्टछापी कवियों की कृतियाँ अपनी विशिष्ट स्थान रखती हैं। अब तक यही साहित्य सबसे अधिक प्रकाश में आया है, सबसे अधिक अध्ययन का विषय बना है और इसी ने जनमानस में सबसे अधिक प्रवेश पाया है।

---

1. हिन्दी काव्य में कृष्णचरित का भावात्मक स्वरूप विकास डा0 तपेश्वर नाथ पृ02

(i) वैष्णव का लीला दृष्टिकोण :-

सगुण मतवादी वैष्णव की साधना के प्रधान आलम्बन राम और कृष्ण रहे हैं। इनमें श्री कृष्ण को विशेष प्राधान्य मिला है। वैष्णव में प्रायः सभी ने श्री कृष्ण के दो रूप माने हैं-

1. गोलोकस्य अवतारी रूप,
2. ब्रजस्य अवतार रूप,

इन दोनों अवतारों में प्रथम नित्यबिहार का रूप है और दूसरा जगतप्रवृत्ति रूप।[1] गोलोक की लीलाओं के अन्तरंग लीला तथा अवतारकालीन सामान्य लीला को वाह्यलीला कहते हैं। अवतार समय की कुछ लीलाओं को श्रीकृष्ण की स्वधामवत् अन्तरंग लीला भी कहा जाता है।

बाह्य लीला को जगत के माध्यम से वैष्णवों ने देखा है। समस्त संसार उसका गतिचक्र श्री कृष्ण की आरती है। सूरदास जी ने आरती के ही रूपक से इस विश्वलीला का सुन्दर परिचय दिया है-

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्ररचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डांडी सहस फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल धनी।
रवि-ससि-ज्याति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अंतर, अंजन घटा घनी।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर-नर असुर- अनी।
काल कर्म-गुन-और अंत नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर, लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रकट ध्यान में, अति विचित्र सजनी।[2]

---

1. अहं वहामीह गतिं तदीया, रूपद्वयं नित्यमतोऽस्यविष्णो·।
एकेन नित्यं नियतो बिहारस्तथा द्वितीयेन जगत्प्रवृत्ति। हंस विलास उ0 47
2. सूरसागर, पद संख्या 371

विश्वलीला प्रभु की प्रत्यक्ष लीला है। श्री वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका (भागवत की तृतीय स्कन्ध) में लीला की व्याख्या दी- लीला विलास की इच्छा का नाम है कार्य केबिना ही यह केवल व्यापार मात्र होता है, अर्थात इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं किया जाता। उत्पन्न किए गए कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नही रहता है, न तो कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है। लीला की अभिव्यक्ति अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द के उदय को सूचित करती है। आचार्य वल्लभ ने अणुभाष्य में बताया है कि भगवान की लीला का लीला को छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्ष में जो कुछ भी सत्तावान है, वह सब ब्रह्म का ही प्रतिरूप है, अंश है। वह सब भगवान की लीला का एक भाग मात्र है। अतः जगत की प्रत्येक क्रीड़ा भगवान की लीला है।[1] भगवान की लीला भी उन्हीं के समान नित्य, अनन्त तथा चिन्मय है। लीला साम्यभाव, सख्य की भावना पर आश्रित रहती है, असमानता या वैषम्यभाव के उदय होने पर लीला का प्रादुर्भाव कथमपि नहीं हो सकता है। लीला के विषय में वैष्णव मतो में पर्याप्त मत की विभिन्नता लक्षित होती है। श्रीवैष्णव तथा मध्वभक्त दास्यभाव का साधक होता है। वह भगवान के ऐश्वर्य भाव का उपासक होता है। भगवान के माधुर्य भाव के प्रधान्य होने पर तद्रूप लीला का प्रसंग उठता है। भगवान के ऐश्वर्य भाव की पुष्टि होने पर यह प्रसंग

---

1. कृष्णभक्ति काव्य में सखीभाव, डा0 शरणबिहारी गोस्वामी पृ0 89

सामान्यतया उठता ही नहीं। निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों में भगवतलीला के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूप शक्ति के साथ लीला किया करते हैं। जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ वृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान की लीला कथमपि नहीं हो सकती है। भगवान आह्लादिनी शक्ति भूता श्री राधा रानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ लीला किया करते हैं।

(ii) लीला के भेदः-

श्री वैष्णव सम्पस्रदाय के रसिक आचार्यो ने गुण प्रकाश और तत्त्व की दृष्टि में रखते हुए भगवान की लीला के छः भेद माने हैं। गुणों के विचार से उसके दो भेद है – निर्गुण लीला और सगुण लीला। निर्गुण लीला अनन्त और नित्य है। गोलोक, श्वेतदीप अथवा साकेत में वह नित्य सूक्ष्म रूप में चलती रहती है। रसमार्गी जीव नित्य मुक्तावस्था में उसे प्राप्त कर कृतपार्थ होते हैं :-

निर्गुणायस्तु लीलाया यद्यप्यन्तो न विधते।
आविर्भविस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना।[1]

भगवान भक्तों पर दया करके जब कभी पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तब उनकी सगुण लीला का प्राकट्य होता है। यद्यपि उनकी दोनों लीलाओं के स्वरूपों में भेद नहीं होता, फिर भी इस

---

1. वृहत् ब्रह्म संहिता, पृ0 66-67

दूसरी सगुण लीला का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। यह लीला वद्ध और मुमुक्षु लोगों के उद्धार के लिये होती है। इस प्रकार लीला के प्रकट और अप्रकट दो प्रकाशगत भेद हैं। प्रगट लीला सगुण लीला का दूसरा नाम है। इसे प्रपंचगोचर लीला की भी संज्ञा दी गई है जब यह लीला सांसारिक दृष्टि से अगोचर हो जाती है तब अप्रकट कही जाती है।[1] अप्रकट लीला दो प्रकार की होती है :-

1. मंत्रोपासनामयी
2. स्वारसकीय

मंत्रोपासनामयी में मंत्रो द्वारा लीला का गान किया जाता है, यह विशेष काल और विशेष स्थान की सीमा में बंधी हुई है और मंत्रोपदिष्ट स्वरूप, धाम और परिकर से लक्षित होती है। स्वारसकीय न तो मंत्र से और न ध्यान से गोचर है, बल्कि भगवत्कृपा से इसका दर्शन होता है। अप्रकट लीला का स्वारसकीय स्वरूप भगवान के एक किसी विशेष कार्य में ही सीमित नहीं है, बल्कि इच्छानुसार अवसरानुकूल भिन्न- भिन्न कार्यो में लक्षित होती है। भगवान की लीलाओं का गान करते-करते मनुष्य ऐसे अनुभूत सुख का अनुभव करता है, जो इस पार्थिव लोक में प्राप्य नहीं है।इस अवस्था लीला को 'स्वारसकीय' कहते हैं। अबाधित गति वाली होने के कारण स्वारसकीय सुरसरि प्रवाह के समान है और रूद्र प्रवाहमयी होने के कारण मंत्रोपासनामयी एक झील के सदृश।

---

1. प्रपंचगोचरत्वेन सा लीला प्रगटास्मृता।
   अन्यास्तुऽप्रगटाभान्तितादृश्यगोचराः।
   लघुभागवतामृत।

तात्त्विकी और अतात्त्विकी लीला :-

तत्त्व की दृष्टि से भी उसे दो भागों में विभक्त किया गया है- तात्त्विकी और अतात्त्विकी। इसमें तात्त्विकी लीला नित्या और चैतन्य स्वरूप है। उसका क्षेत्र नित्यधाम गोलोक अथवा साकेत है। अतात्त्विकी लीला माया शक्ति की कार्यरूप है इसी की द्वारा भगवान असुरों की बुद्धि भ्रमित करतें हैं। साधारण सांसारिक लोग भी इसका रहस्य नही जान पाते। लीला के उपर्युक्त छः भेद वास्तव में भगवान की प्राकृत और अप्राकृत लीला के विभिन्न नाम हैं। लीला रसिक महापुरूष लीला के तीन प्रकार अथवा भेद मानते हैं। अद्वैत वेदान्त मत में - पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रतिमासिक भेद से सत्य का तीन रूप माना जाता है। बौद्ध विज्ञानवाद के मत में स्वभाव का परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित ये तीन भेद कहा गया है। ठीक उसी प्रकार लीलातत्त्वविद् मनीषियों ने भी लीला के विषय में अनुरूप सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। 'आलमन्दारसंहिता' के षष्ठ अध्याय में लिखा है कि लीला भी वास्तविक, व्यवहारिक तथा प्रतिमासिक भेद से तीन प्रकार की होती है। वास्तविक लीला का अभिनय अक्षर ब्रह्म के हृदय में होता है। अक्षर ब्रह्म का हृदय स्थान कैसा है? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह स्थान कोटि ब्रह्माण्डों से परे है। केवल इतना ही नहीं, वह ब्रह्माण्डातीत महाशून्य से भी विलक्षण है। वह आसीम और अनन्त है। वहां की भूमि, आकाश, जल, तेज सभी स्वप्रकाश में ही उद्भासित है, उसे 'आनन्दपदस्थान' कहते हैं, वहाँ कोटियोजन तथा सुधाब्धि फैला हुआ है। बीच में अर्थकोटियोजन

मणिदीपक है, उसके नवखण्ड हैं, जिसमें नव रस की लीला चल रही है, इसके बीच मध्य खण्ड में 'श्रृंगार शालिका' लीला चल रही है इत्यादि। नित्य साकेत अथवा नित्य वृन्दावन में जो लीला होती है, वह प्रतिमासिक है। अयोध्या अथवा ब्रज भूमि में काल विशेष में जो लीला होती है, वह व्यवहारिक है।[1]

कुंज और निकुंज लीला–

वैष्णवों में कुंज निंकुज शब्द भी बहुधा प्रयुक्त होते हैं। इनके आधार पर दो प्रकार की लीलाएं भी होती हैं।

1. कुंज लीला
2. निंकुज लीला।

वैष्णव रस साहित्य में कुंज ऐसे स्थल विशेष को कहते हैं जहाँ पिय और प्रिया क्रीड़ा किया करते हैं।[2] जहाँ भक्त और भगवान का मिलन होता है, इसको पाश्चात्य रहस्यवादी (ओरिजन आफ यूनियन) मिलन आराधन कहते हैं और नायक–नायिका का भेद वाले आलंकारिक 'संकेत स्थल' कहते हैं। क्रीड़ा का अवसान ही 'कुंजभंग' कहा गया है। वस्तुतः कुंज भक्त का हृदय मन्दिर है, जहां पर भगवान की उपासना में भक्त विभोर है।

कुंज लीलाः–

जिस लीला में श्री कृष्ण (व्रजवधूवल्लभ) ही उपास्य हैं, इष्ट हैं और भक्त गोपीभाव से उनकी लीलाओं का गान करता है।

---

1. पुराण संहिता, पृ0 262, आलमदार संहिता, पृ0 4–5
2. रात्रिदिन कुंज क्रीड़ा करे राधासंगे। –– चैतन्य चरितावली।

इस लीला में स्थायीभाव श्री कृष्ण रति हैं, विषयालम्बन श्री कृष्ण हैं, आश्रयालम्बन ब्रजगोपिकाएं अर्थात् श्रीकृष्ण चरण की प्रधानता है। यहां रस की समृद्धि एवं परिपक्वता के लिए 'विरह' को स्वीकार किया गया, विप्रलंभ श्रृंगार की मुख्यता है।

निंकुज लीलाः-

निकुंज लीला कुंजलीला से भिन्न एवम् अन्तरंग है। निभृत कुंज को निकुंज कहते हैं जिसमें अत्यंत गुह्य, गोप्य एवम् रहस्यमय लीला हो रही है। निकुंज में केवल ईश्वर ही पुरूष है और राधा ही स्त्री, अन्य स्त्रियां उनकी सखियां हैं। इस लीला में परम सौन्दर्य निकेतन परमरसामृतमूर्ति रसस्वरूप भगवान रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं - कृष्ण और राधा। इनका रंग, रूचि, वय, स्नेह शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिक किशोर निकुंज में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं, कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है, कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है, और दो रूप होकर भी एकाकार सम्पन्न होकर रस में प्रतिष्ठित रहते हैं। निकुंज लीला के इस नित्य वृन्दावन की रसकेलि में मानविहार तथा वियोग की गन्ध तक नहीं है। इसमें राधारति ही स्थायी भाव है, श्री राधा विषय तथा श्री कृष्ण आश्रय हैं। इस लीला में न तो नन्द यशोदा का और न सुबल सुबहु आदि सखाओं का प्रवेश है, न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है और तो क्या, स्वयं ब्रजगोपिकाओं का भी वहां प्रवेश नहीं है।[1] परम गोपनीय लीला है।

---

1. तिन गोपिन को दुर्लभ भाई। नित्य विहार सहज सुखदाई।।
   - ध्रुवदास, बयालीस लीला।

(iii) लीला का प्रयोजनः–

हरि लीला का सामान्य अर्थ हरि की लीला अर्थात् प्रभु का खेल है। यह खेल ही सृष्टि है। सृष्टि का रचना है, परन्तु अपने व्यापक रूप में सृजन एवं ध्वंस दोनों ही उसके दो पार्श्व हैं। एक ही तत्त्व के वक्ष एवम् पृष्ठवत् दो रूप हैं। महाकाल शंकर जिस प्रकार शिव और इन्द्र दो रूपों वाले हैं और लास्य एवं तांडव उनके नृत्य (लीला, खेल) के दो भेद कहलाते है, उसी प्रकार सृष्टि में सृजन एवम् ध्वंस की दोनों क्रियायें विद्यमान हैं। यह द्विविध खेल इस सृष्टि में प्रतिक्षण हो रहा है। आकर्षण और विकर्षण, विधि और निषेध, धन और ऋण, गुणा और भाग, संयोग और वियोग, हास्य और रूदन, उल्लास और विषाद, ऊषा और संध्या, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्र, पितृयार और देवयान, उत्तरायण और दक्षिणायन, ज्वार और भांटा, दिवा और रात्रि, जड़ और चेतन, पुरूष और स्त्री, मूर्त और अमूर्त आदि अनन्त द्वन्द्व इसी अनन्त खेल के अनन्त रूप हैं। ऋगवेद के अघमार्षण सूक्त में इन्हीं को ऋत और सत्य कहा गया है। एक में गति है तो दूसरे में स्थिति। एक में प्रसार है तो दूसरे में संकोच। प्रकाश और अन्धकार की भांति यह युग्म एक होकर भी अपने दो रूप रखता है। जैसे एक बीज में पुलिंग और स्त्रीलिंग नाम के दो दल रहते है, उसी प्रकार इस सृष्टि का मूल द्विदलात्मक है, द्विविध रूप वाला है।[1]

---

1. भारतीय साधना और सूर साहित्य, मुंशीरामशर्मा, पृ0 118

उपनिषदों में जिस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना का विकास हुआ था, वहां एक ओर तो निर्गुण, निष्क्रिय और निराकार था और दूसरी ओर सगुण सक्रिय साकार और स्रष्टा भी।[1] भारतीय दर्शन में जगत और जीव से उसके सम्बन्धों को लेकर विभिन्न प्रकार के तर्क उपस्थित किए गए थे। नैयायिकों के निमित्त कारण, वैशेषिको के उपादान कारण तथा सांख्य के द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के कर्तव्य, ये सभी ब्रह्म के ब्रह्मत्त्व में कोई न कोई दोष उपस्थित करने के कारण आलोचना के विषय बन चुके थे।[2] ब्रह्म में किसी प्रकार का प्रयोजन उसके पूर्णत्त्व में बाधक माना जाने लगा था।[3] दूसरी आरे वैदिक साहित्य में ब्रह्म से सम्बद्ध कामना, इच्छा आदि शब्द उनमें किसी न किसी प्रयोजन की ओर संकेत करते हैं, तथा कामना और इच्छा के अतिरिक्त उसमें निहित आनन्द क्रीड़ा आदि उपादानों की अभिव्यक्ति भी हुई थी। अतः वैदान्तिकों ने उपर्युक्त तथ्यों का सामन्जस्य 'लीला' में खोज निकाला, क्योंकि आनन्द क्रीड़ा आदि में लीला का भाव होने पर भी प्रयोजन आवश्यक नही था। जिस प्रकार नर्तक या नट आननद के निमित्त अनेक प्रकार की लीलाएं करते हैं तथा बालक अपनी इच्छानुसार विविध प्रकार की क्रीड़ाएं करते हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी नट्वत या बालकवत् लीलाएं करता है। शंकराचार्य ने राजा या मंत्री के सदृश पूर्णकाम ब्रह्म की लीलाओं को भी निष्प्रयोजन केवल लीला या

---

1. वृ0 उ0 3,8,8, निर्गुण छा0 उ0 3,14,1-4 सगुण
2. भारतीय दर्शन पृ0 269, 298 और 341
3. ब्र0 सू0 2.1.32 न प्रयोजनवत्वात्।

मनोरंजन के निमित्त बतलाया है।[1] उपनिषदों में व्याप्त ब्रह्म की इच्छा के और कामना का ही विकास सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा), युयुत्सा (युद्ध की इच्छा) और रिरंसा वृत्ति (आस्वादन की इच्छा) वृत्ति में लक्षित होता है।

विष्णु पुराण में देव, तिर्यक मनुष्य आदि योनियों में उनकी उत्पत्ति को ब्रह्म की स्वाधीन चेष्टा की उपलक्षिका लीला कहा गया है। किन्तु भागवत पुराण में लीला पुरूषोत्तम श्री कृष्ण को 'परब्रह्म' से अभिहित कर सृष्टिगत, जीवनगत एवं वैयक्तिक सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों को लीलात्मक रूप प्रदान किया गया है। भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में ही कहा गया है कि लीला से अवतार धारण करते हैं।[2] उनकी यह लीला कपट मानुषी या नटवत् होती है। फलतः मध्यकाल युग में अवतार लीला के साथ ही भू-भार हरण या भक्तों के मोक्षदान आदि प्रयोजनों को लीला में ही समाहित कर लिया गया।[3] जिसका फल यह हुआ कि लीला एवं प्रयोजन में कोई विशेष अन्तर नही रहा। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में श्री सम्प्रदाय के अनुयायी लोकाचार्य ने तो लीला को ही एक मात्र प्रयोजन माना है।[4] आचार्य वल्लभ के अनुसार लीला नाम है विलास की इच्छा का। किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को लीला कहते हैं। उस क्रिया के बाहर किसी कार्य की सृष्टि नही होती और उत्पन्न हुआ कार्य भी

---

1. शारीरिक भाव्य, ब्र0 सू0 2,1,33
2. भागवत, 1,1, 17
3. भागवत, 1, 16, 23
4. तत्व त्रय, पृ0 89 'अस्य प्रयोजनं केवल लीला'।

अभीष्ट नही होता, न ही वह क्रिया कर्ता में रचमात्र की प्रयास की सृष्टि करती है। अपितु अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द भर जाने से उस आनन्द के उल्लास में कार्योत्पादन के समान क्रिया उत्पन्न होती है, उसी का नाम लीला है।

लीला में कोई विशिष्ट प्रयोजन उद्देश्य बनकर निहित नहीं रहता। लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है।

" न ही लीलयांकिन्चित प्रयोजनमस्ति। लीलया एव प्रयोजनत्वात्"।[1]

यह लीला भगवान के स्वभाव के अन्तर्गत है। श्वेताश्वतर उपनिषद में 'स्वभावकी ज्ञानबल क्रिया च' कहकर प्रभु की लीला को स्वाभाविक, अतएव शाश्वत कहा गया है। अतः जो वस्तु स्वभावगत होती है, उसका कोई प्रयोजन नहीं होता।

लीला के सम्बन्ध में अपनी भावना प्रगट करते हुए हिन्दी काव्य साहित्य के अमर कलाकार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद कामायनी के श्रद्धा सर्ग लिखते हैं :-

कर रही लीलामय आननद
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
सभी होते इसमें अनुरक्त।।

वह महाचिति, परम चैतन्य सत्ता सतत् सजग बनी हुई लीलामय आनन्द का अभिव्यंजन कर रही है। विश्व की अभिराम अभिव्यक्ति के मूल में यही लीला, यही आनंदवाद है। विश्व का प्रत्येक

---

1. ब्रह्म सूत्र, अध्याय 2, पाद 1, सूत्र 33 के अणुभाष्य पृ0 601

प्राणी इस आनन्दवाद की ओर उन्मुख है। आनन्द की खोज में जाने अनजाने सभी व्यस्त हैं। सभी उस परम सुख की ओर अनुरक्त हुए चले जा रहे हैं। पर विस्मय इस बात का है कि उधर जाते हुए भी, सब उधर नही जा रहे। सब अपने उद्देश्यों को भूलकर साधनों के साथ चिपट जाते हैं। साध्य रूप आनन्द की झलक आती है और तिरोहित हो जाती है आनन्द की खेज में पड़ा हुआ मानव, इस प्रकार निरन्तर आनन्द से वंचित रहता है।

लीला और आनन्दवाद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिसने हरिलीला को पहचान लिया, वह आनन्द की भूमिका में पहुंच गया और जो आनन्दधाम में पहुंचा, उसने हरिलीला के दर्शन कर लिये।[1]

(ग) विविध शास्त्रकारों के मतः-

1- निम्बार्कः-

वैष्णव धर्म के सुविख्यात चतुः सम्प्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय प्राचीनतम् है। इस सम्प्रदाय के आदि उपदेष्टा श्री हंस भगवान है। भागवतपुराण के अनुसार, सनकादिकों के योग सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर भगवान ने हंस का रूप धारण करके दिया था[2], इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम हंस सम्प्रदाय भी पड़ा। उनसे सनत्-सनकादि को उपदेश मिला। नारद मुनि ने इस उपदेश को ग्रहण कर इस आचार्य निम्बार्क को दिया। इनका शैशवावस्था का नाम

---

1. भारतीय साधना और सूर साहित्य- मुंशीराम शर्मा पृ0 121
2. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध11, अध्याय 13

नियमानन्द था। ऐसी दन्तकथा[1] प्रसिद्ध है कि मथुरा के समीप ध्रुव क्षेत्र में जब नियमानन्द जी रहते थे तब कोई जैन साधु इनके पास अध्यात्मिक चर्चा करने आये। दोनों व्यक्ति शास्त्र चर्चा में इतने लीन हो गये कि इन्हें सूर्यास्त होने का बोध नहीं हुआ। रात्रि का अन्धकार फैलने लगा और अतिथि जैन साधु के भोजन की बेला नहीं रही। नियमानन्द जी का मन पश्चात्ताप से भरने लगा, उन्हें यह देखकर बड़ी वेदना हुई कि अतिथि साधु को रात-भर निराहार रहना पड़ेगा। इस वेदना में म्लानमन होकर शान्त भाव से बैठे हुए नियमानन्द जी क्या देखते हैं कि आश्रम के नीम के वृक्ष के ऊपर सूर्य अपनी किरणों का प्रकाश फेंक रहें हैं। चमकते हुए सूर्य का देखकर तुरन्त नियमानन्द ने अपने अतिथि को भोजन कराया भोजन समाप्त होते ही फिर घनान्धकार सर्वत्र व्याप्त हो गया। इस विचित्र चमत्कार के कारण ही उसी दिन से नियमानन्द जी का नाम निम्बार्क (नीम पर सूर्य के दर्शन करने वाला) हो गया। निम्बार्काचार्य का जन्म यद्यपि दक्षिण में हुआ था, किन्तु कर्मभूमि ब्रजमण्डल ही है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत है। और भक्ति के क्षेत्र में इसकी मान्यता राधाकृष्णोपासना है। निम्बार्काचार्य जी प्रथम आचार्य थे जिन्होंने उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की उपासना को महत्त्व दिया। उनके सिद्धान्त में प्रपत्ति को विशेष महत्त्व दिया गया, परन्तु प्रपत्ति के साथ-साथ ईश्वर की कृपा और

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा0 नगेन्द्र पृ0 211 1998 संस्करण।

उसके प्रति प्रेम का भी प्राधान्य है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसने सगुण और निर्गुण दोनों भक्तों का प्रभावित किया। यह सम्मान अन्य किसी दार्शनिक विचारधारा को प्राप्त नही हो सका।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म को प्राप्त करना ही जीव का उद्देश्य है। इसका उपाय है शरणागति। प्राणी को भगवान की शरण में जाने के लिए प्रथम गुरू की शरण में जाना आवश्यक है। फिर गुरू के आदेशानुसार भक्त भगवान की ओर अग्रसर होता है। शिष्य के प्रति गुरू का उपदेश उपासना के रूप में होता है। उपासना एक प्रकार से भगवत प्रेम का साधन है। अतः भगवान की पूजा के रूप में उपासना इस सम्प्रदाय में आवश्यक कर्तव्य है।[2]

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख भक्तिकालीन कवियों में श्री भट्ट, हरिव्यासदेव और परशुराम देव के नाम उल्लेखनीय हैं इनके काव्य राधा-कृष्ण की लीलाओं में माधुर्य लीलाओं का विधान हुआ है जो नित्व विहार इस सम्प्रदाय की उपासना का प्रमुख तत्त्व है। यही कारण है कि निम्वार्क सम्प्रदाय के सभी हिन्दी कवियों ने नित्यविहार का वर्णन किया है।[3] अतः निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में राधा-माधव की विविध माधुर्य-लीलाओं के चित्रण में उनकी कला चेतना विकसित हुई है और उन्हीं के अन्तर्गत निम्बार्कीय कवियों ने अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है।

---

1. हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ0 92-93
2. नारायण दत्त शर्मा, निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी कवि, पृ0 120
3. नारायण दत्त शर्मा, निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी पृ0 120

2. वल्लभाचार्यः-

भक्तिकाल के हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा में वल्लभाचार्य का यह भक्ति सम्प्रदाय अपने प्रवर्तक के नाम पर वल्लभ- सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इसे 'पुष्टिमार्ग' अथवा पुष्टिमत भी कहा जाता है। 'पुष्टिमार्ग' नाम की प्रेरणा वल्लभाचार्य को भागवत पुराण से प्राप्त हुई। भागवत पुराण के अनुसार, भगवान के अनुग्रह से ही जीवात्मा का वास्तविक पोषण (पुष्टि) होना संभव है।[1] प्रभुदयाल मीतल के अनुसार भगवान की कृपा से ही जीव के हृदय में भगवद् भक्ति का संचार होता है, और उसी से भगवद्-प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार भगवान का अनुग्रह (पोषण) ही भगवद-भक्ति का साधन है और वही उसका फल भी है। भगवद्-भक्ति और भगवान की प्राप्ति में काल कर्म और स्वभाव बाधक होते हैं किन्तु श्री वल्लभाचार्य का मत है, 'पुष्टि कालादि वाधिका' अर्थात पुष्टि (भगवद्-कृपा) से कालादि (काल-कर्म-स्वभाव) की बाधा भी नहीं होती।[2] इस प्रकार पुष्टि को प्रधानता देने के कारण इस सम्प्रदाय को पुष्टिमार्ग कहा गया।

वल्लभ सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' है। वल्लभाचार्य के मत के दो पक्ष हैः- प्रथम सिद्धान्त-पक्ष और द्वितीय आचरण पक्ष। सिद्धान्त पक्ष के अन्तर्गत वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैतवादी, ब्रह्मवादी और अधिकृत परिणामवादी नामों से सम्बोधित किया जाता है तथा आचरण पक्ष में यह मार्ग 'पुष्टिमार्ग' भगवान के

---

1. 'पोषणं तदनुग्रह' भागवत पुराण, 2/10/14
2. प्रभुदयालमीतल, ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ0 213

अनुग्रह अथवा पुष्टि के मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा गया है। स्नेहपूर्वक भगवान की सेवा तथा प्रभु की कृपा अथवा पुष्टिजन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय की साध्य वस्तु है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मोक्षसुख की अवस्था भगवान की कृपा से ही मिलती है।[1] भगवान जीवों पर अनुग्रह के लिए ही अवतार लेते हैं। उनका यह अनुग्रह ही लीला मात्र है। (इस अनुग्रह पर आश्रित यह पुष्टि भक्ति नवद्या-भक्ति से भिन्न है)। पुष्टि भक्ति रागात्मिका अथवा रागानुगा भक्ति है जो कि भगवद्-प्रेम पर आश्रित है, अतः इसकों प्रेम लक्षणा भक्ति कहते हैं।

भक्तिकाल में वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के आठ कवि- सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास और चतुर्भुज दास सर्वाधिक विख्यात हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के इन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में कृष्ण-लीला का व्यापक आधार ग्रहण करते हुए उन्हें वात्सल्य, सख्य, और माधुर्य की भूमियों पर संचार मिला है। कृष्ण लीला का जितना व्यापक इतिवृत्त वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछापी कवियों की रचनाओं में स्वीकार हुआ है उतना किसी अन्य सम्प्रदाय के काव्य में नही दिखायी पड़ता। भक्ति के रागनिष्ठ विविध भावों का विधान और ब्रजलोक जीवन की व्यापक स्वीकृति भी वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों के काव्य की विशेषता है। कृष्ण लीला की लोक भूमि पर विस्तार और भाव वैविध्य के कारण वल्लभ सम्प्रदाय के काव्य में अप्रस्तुतों का चयन प्रकृति और लोक जीवन की व्यापक भाव भूमि पर हुआ है। भक्तिकालीन

---

1. दीन दयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ0 395

सभी कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों की तुलना में वल्लभ-सम्प्रदाय काव्य गुण और परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

3. चैतन्य महाप्रभु :-

चैतन्य मत का आविर्भाव चैतन्य देव की प्रेरणा से गौड़ अर्थात प्राचीन बंगाल प्रदेश में हुआ। इस सम्प्रदाय का नाम अपने प्रवर्तक के नाम पर चैतन्य-सम्प्रदाय और जन्म-स्थान के नाम पर गौड़ीय-सम्प्रदाय पड़ा। यह भक्ति सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा माध्व सम्प्रदाय की परम्परा में विकसित होने के कारण 'माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना जाता है।

चैतन्य सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त अनित्य भेदाभेदवाद कहलाता है। इस सम्प्रदाय में कृष्ण परमतत्त्व और एकमात्र ज्ञेय है जो कि अनन्त और अनादि है। उपासना की विधियों में अन्तर होने के कारण उसके विविध रूप हो गये हैं, परन्तु इसकी शक्ति अचिन्त्य है। इस शक्ति के प्रकट हो जाने पर वह भगवान कहलाता है, अन्यथा वह ब्रह्म है। और जब उसकी शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट न होकर अंश रूप में प्रकट होती है तब वह परमात्मा कहलाता है। भगवान की ये शक्तियां तीन कही गयी हैः-

1. अन्तरंग-शक्ति,
2. बहिरंग-शक्ति
3. तटस्थ-शक्ति

अन्तरंग-शक्ति सत् चित् आनन्द का सामूहिक रूप है। बहिरंग-शक्ति माया कहलाती है, और जो इन दोनों के मध्य की

एक अन्य शक्ति है, वह तटस्थ-शक्ति कहलाती है और जो जीवों की उत्पत्ति का हेतु है।

इस परमतत्त्व की प्राप्ति का साधन भगवद्-भक्ति है। भक्ति द्वारा भगवान स्वयं वश में हो जाते हैं। प्रभुदयाल मीतल के अनुसार अखिल ब्रह्माण्ड नाम सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व, साधक मात्र के लिये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान नामक तीन रूपों में भासित होता है। शास्त्रों में उसकी साधना के भी तीन प्रमुख मार्ग बतलाये गये है जो ज्ञान, योग और भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान से ब्रह्म का आभास होता है और योग से परमात्मा की अनुभूति होती है किन्तु भक्ति में स्वयं भगवान वश में हो जाते हैं।[1] इस मत के अनुसार भक्ति का अधिकार सबको समान रूप से है। जाति-पांति का भेदभाव नहीं है। परन्तु भक्तजनों में अतिशय दीनता, नम्रता और सहिष्णुता जेसे गुणों का होना आवश्यक है। इस सम्प्रदाय में भक्ति के दो प्रकार बतलाये गये हैं :-

1. वैधी
2. रागा

प्रभुदयाल मीतल के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से कृष्ण का भजन करना वैधी भक्ति है और श्री कृष्ण की प्रीत्यार्थ उनसे निष्काम प्रेम किया अद्वैतुकी भक्ति करना राग-भक्ति कहलाती है। राग-भक्ति दो प्रकार की मानी गयी है-

---

1. प्रभुदयाल मीतल, चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृ0 89

1. रागात्मिका,

2. रागानुगा,

भगवान श्री कृष्ण के नित्य परिकर ब्रजवासियों की भक्ति रागात्मिका है जो विधि-निषेध से सर्वथा परे है। 'रागानुगा' भक्ति, भक्ति तत्त्व की चरम अवस्था है जिसे प्राप्त करना चैतन्य-मत के परम भक्तों का सर्वोपरि लक्ष्य होता है।[1] इस मत में गुरू सेवा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। भक्त जन गुरू की कृपा से ही इष्ट को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तिकालीन प्रमुख कवियों में रामराय, श्री गदाधर भट्ट और सूरदास मदन मोहन के नाम प्रमुख हैं। भक्ति काल में चैतन्य मत का ब्रजभाषा काव्य परिमाण में अत्यल्प है। इन कवियों की पदावली में राधा-कृष्ण की कुंज-लीलाओं की अभिव्यक्ति हुई है जिनका परिवृत्त सीमित है। चैतन्य-मत के इन भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं में जहां सिद्धान्त-कथन की प्रवृत्ति मिलती है वहां के मूल संस्कृत और बंगला ग्रन्थों पर आधारित रहे हैं। राधा माधव के लीला-वर्णन में चैतन्य-मत के भक्तिकालीन कवियों की रचनात्मकता अन्य सम्प्रदायों की तुलना में अपेक्षाकृत न्यून के रूप में पल्लवित हुई है।

4. रूपगोस्वामीः-

साम्प्रदायिक वैष्णवाचार्यों में इनका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु कृति परम्परा से चली आती

---

1. प्रभुदयाल मीतल, चैतन्यमत और ब्रज साहित्य, पृ0 90,

हुई रस धारा का विस्तृत परिचय देती है। उनके अनुसार हृदयस्थ सत्त्वोज्वल स्फुरण का आस्वाद ही भक्तिरस है।[1] उनके प्रमाता मात्र भक्त हैं। भक्त की विशेषता बताते हुए उन्होंने इसे प्रसन्न, निर्मल चेता, भागवत अनुरक्त रसिक जीवनीभूत गोविन्द के चरणों में ही सुखी रहने वाला, अन्तरंग प्रेम से विह्वल तथा भक्ति के पूर्व संस्कार से मंडित कहा है।[2] इस प्रकार साधारणीकरण की भूमिका में कहा जा सकता है कि निर्धूत प्रसन्न चेतस् भागवत रस में अनुरक्त, रसिक, अन्तरंग प्रेम से विह्वल एवम् भक्ति संस्कार से मंडित भक्त के हृदय में स्फुरित उज्जवल सत्त्व के स्फुरण को भक्तिरस कहते हैं। इसी के बाद उन्होंने साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी संकेत किया है। रूप गोस्वामी ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के दो आचार्यों का नाम इस सन्दर्भ में लिया है आचार्य भरत का तथा दूसरे किसी सुरिभिः अर्थात् ध्वनिवादी आचार्य का जो भाव के साधारणीकरण का प्रतिपादन करता हो अर्थात् अभिनव गुप्त का। आचार्य भरत के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि उनके अनुसार विभावादि के संयोग से निष्पन्न रस शक्ति साधारणीकृत होती है। यह सम्भवतः भरत के रस प्रक्रिया से सम्बन्धित सूत्र की ओर संकेत करता है। प्रमाता विभावादि के संयोजन से स्व एवम् पर का अभेद कर रसास्वादन कर लेता है। भक्त भी ठीक यही करता है। दुःखादि से पीड़ित होने पर भी व्यक्ति जिस प्रकार काव्यानन्द के सम्पर्क में आने पर दुःखों को विस्मृत कर

---

1. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग विभाव लहरी श्लोक सं0 6,7
2. श्री हरिभक्तिरसाकृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, विभाव लहरी श्लोक सं0 8,9,10

जाता है। उसी प्रकार प्रमाता भक्त भी सांसारिक क्लेशजन्य विरागादि को कृष्ण रस के साक्षात्कार से विस्मृत करता है।

रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति के चार भेद हैं – सामान्या, साधनांकिता, भावाश्रिता तथा प्रेमनिरूपिका। प्रेमनिरूपिका भक्ति उसमें श्रेष्ठ है। यह भक्ति भक्तों को स्वतः आकर्षित कर के अपने वश में कर लेती है, अतः इसका नाम कृष्णाकर्षिणी रखा है। इसके दूसरे भेद प्रेमनिरूपिका भक्ति को दो भागों में विभक्त किया है– रागानुगा तथा कामानुगा या सम्बन्धानुगा। रागानुगा भक्ति गोपिकाओं को अधिक प्रिय थी। जिस प्रकार एक प्रिया का सम्पूर्ण वासना समर्पण प्रियतम के प्रति हो जाता है उसी प्रकार अपने को ब्रह्म में लय कर देना ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति ब्रजांगनाओं की थी। कामानुगा भक्ति सांसारिक सम्बन्धों का कृष्ण के प्रति आरोपण है। ये सम्बन्ध स्वामी, पिता मित्र प्रियतम आदि किसी के भी हो सकते हैं। सुबल, नारद, श्रीदामा आदि की भक्ति इसी श्रेणी में आती है। रूपगोस्वामी ने स्पष्ट रूप से प्रेममूला रागात्मिका भक्ति को गौड़ीय सम्प्रदाय की भक्ति का मूलतत्त्व बताया है। इस प्रकार इनकी भक्ति का आधार भाव है। यह भाव रागात्मक सम्बन्ध के कारण रति में परिणत हो जाता है। यही रति कृष्ण रस या भक्तिरस की निष्पत्ति में सहायक होती है। भक्ति के लक्षणों की ओर संकेत करते हुए इन्होंने भक्ति की भूमिकाओं की ओर भी निर्देश किया है। यह भूमिका इस प्रकार – श्रद्धा, साधु संग, भजन क्रिया, निष्ठा, रूचि, आसक्ति, भाव

प्रेम। यही प्रेम ही भक्ति के सन्दर्भ में गुढ़ अव्यक्त एवं भागवत का अमृत तत्त्व है। भक्तों के लिए यही एकमात्र उपास्य है।

5. श्री मध्वाचार्यः-

द्वैतवाद को प्रवर्तक मध्वाचार्य माने जाते हैं। इनका समय विक्रम की तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से चौदहवीं सदी के प्रारम्भ तक स्वीकार किया जाता है। मध्वाचार्य ने अपने पूर्व के सभी दार्शनिकों के पूर्ण विरोध में द्वैत मत की प्रतिष्ठा की। शंकराचार्य ने केवल अद्वैत की प्रतिष्ठा की थी। रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन अवश्य किया है परन्तु अन्ततः वे अद्वैतवादी ही हैं, क्योंकि रामानुज ने भेद को स्वीकार करके भी अभेद को ही मुख्य माना है। निम्बार्क ने भी अपने दार्शनिक सिद्धान्त 'भेदाभेद' में भी भेद के साथ-साथ अभेद को भी स्वीकार किया है। इस प्रकार मध्व के पूर्व सभी वेदान्त के आचार्य अभेदवादी हैं। किन्तु मध्वाचार्य ही प्रथम आचार्य है जिन्होंने पूर्ण भेद या द्वैत की प्रतिष्ठा की। उन्होंने अद्वैत के साथ द्वैत या भेद के साथ अभेद का समझौता नहीं स्वीकार किया। मध्वाचार्य के अनुसार पांच प्रकार के भेद शाश्वत हैं :-

1. **ईश्वर व जीव का भेदः-** ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है और जीव अल्पज्ञ है, अल्प शक्तिमान।

2. **ईश्वर व जड़ जगत में भेदः-** ईश्वर चेतन और जगत जड़ है। प्रथम स्रष्टा है द्वितीय सृष्टि।

3. **जीव व जगत में भेदः-** जीव चेतन है जगत जड़ है।

4. **जीव व जीवन में भेदः–** जीव अनेक है। अनेक अनुभवों में भेद है मोक्षावस्था में भी जीवों के अनुभवों में भेद होता है।
5. **जड़ और जड़ में भेदः–** दो जड़ पदार्थों जैसे पेड़ और पत्थर में भेद हैं।

मध्वाचार्य दो मूल तत्त्वों को मानते हैं – एक स्वतन्त्र और दूसरा परतन्त्र। जीव और जड़ जगत परतन्त्र है। भगवान स्वतन्त्र है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में मध्वाचार्य का स्पष्ट मत है कि निर्गुण ब्रह्म मिथ्या है ब्रह्म तो सगुण है जो अनन्त गुणों का भण्डार है। निर्गुण सूचक वेद की उक्तियां केवल ईश्वर के हेय गुणों का निराकरण करती हैं। ईश्वर की शक्ति लक्ष्मी है वह भी परमात्मा से भिन्न है, पर भगवान के पूर्ण आश्रित है।

(घ) प्रमुख पुराण और लीला दृष्टि :–

पुराण भारतीय धर्म वृद्धि की रागात्मक अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत सैकड़ों वर्षो के लोक मानस के विश्वास और चिन्तन का समवेत प्रतिफलन हुआ है। ईश्वर चिन्तन यहां ज्ञान की अपेक्षा भाव का विषय बन गया है। लीलावाद इसकी अन्यतम परिणति है। इसी लीलावादी आग्रह से विभिन्न देवी–देवताओं के इति वृत्तात्मक या बौद्धिक चरित में पौराणिक कल्पनाओं का विनियोग कर उन्हें परम रजंनकारी स्वरूप में ढाल दिया गया है। कहना न होगा कि इन वैष्णव पुराणों में कृष्ण–चरित के साथ भी यही परिणति हुई। फलतः कृष्ण का चरित तत्त्व या इतिवृत्त से ऊपर उठकर पूर्ण सौन्दर्य, परिपूर्ण माधुर्य और सम्पूर्ण आनन्द से मण्डित हो गया है। यहां पहुँचकर दुर्ज्ञेय

ब्रह्म भी अन्तरंग मानवीय सम्बन्धों में पूर्णतः व्यक्त हो उठा है। सम्बन्धों की यह स्वीकृति अव्यक्त पुरुष के भावात्मक स्वरूप से ही सम्भव है। वह जब तक अपने कोमल मधुर भाव वपु में रूप ग्रहण नही करता है तब तक भक्तों और कवियों के मनोरागों का आलम्बन नहीं बन सकता। रमणीय रूप रूचिर सम्बन्ध को स्वीकार कर ही वह सर्वजनसंवेध बनता है। पुराणकार ने इस प्रयोजन को भली भांति हृदयंगम करते हुए स्पष्ट कहा है[1] –

वदन्ति तत्त्वत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्धयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धते।।

सच्चिदानन्द पुरूषोत्तम के तीन स्वरूप हैं– ब्रह्म परमात्मा और भगवान। वह ज्ञानियों के ब्रह्म, योगियों के परमात्मा और भक्तों के भगवान हैं। किन्तु, ज्ञानी और योगी जहाँ उनके अंश विशेष को जानते हैं वहां भक्त भगवान के सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव और रसास्वादन करते हैं। पुराणों की कृष्णलीला का यही रहस्य है। यहाँ आस्वादन लख्य सर्वोपरि है। पौराणिक कृष्णलीला और अवतार का प्रधान हेतु धर्म संस्थापन न होकर भक्तानुगृह हेतु लीला–विस्तारण है। लघु भागवतगृत के अनुसार –

स्वलीला कीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकटये हेतुहत्तमः।।

यहां कृष्ण धर्म–संस्थापक न होकर भक्तानुगृहकातंर हैं। इसी अवतार प्रयोजन को लक्ष्य कर पौराणिक

---

1. भागवत – 3.2.11

कृष्ण लीला में गोपीकृष्ण और राधा-कृष्ण की श्रृंगार लीलाओं की नानाविद्य प्रचुरता हो गयी है। किन्तु इन समस्त श्रृंगार लीलाओं के अन्तरतम में जो ईश्वरीय तटस्थ्ता है, रति में जो विरति है, उसके महत्त्व को लक्ष्यान्तर नही किया जा सकता। यह कृष्ण लीला की अन्तरंग विलक्षणता का परिचायक है। इस श्रृंगारातिशस्य को काम-वासना की कसौटी पर कसना ठीक नहीं। वैसे ही इस चिन्मुख प्रेम को लौकिक श्रृंगार मानना अनुचित है। वैष्णवाचार्यो ने इसीलिए इसे माधुर्य रस की उज्जवल संज्ञा प्रदान की। पुराणों में वर्णित कृष्ण लीला का भी यही रस है, यही रहस्य है। पौराणिक कृष्ण मदन नहीं मदन मोहन हैं।

पुराणों के मूल रचयिता और उनके काल के सम्बन्ध में परिस्त्य-पाश्चात्य विद्वानों में घोर मतभेद रहा है। सामान्यतः इनके रचयिता व्यास माने जाते हैं। किन्तु पौराणिक ग्रन्थों में आये कतिपय नाम और घटनाक्रम इतने भिन्न, बहुरूपी और आधुनिक हैं कि विद्वानों को उनकी तथाकथित प्राचीनता और प्रामाणिकता में स्वाभाविक सन्देह होता है। किन्तु इस मनोवृत्ति से कुछ प्राचीनतर पुराणों के प्रति आलोचक की यह सामान्य विरक्ति आदरास्पद नहीं।

वस्तुतः पुराणों का स्वरूप और काल निर्णय हमारा अभीष्ट नहीं। हम तो मात्र इस निश्चय से इस रसार्णव में प्रवेश कर रहे हैं कि पुराणों में जो कृष्ण लीला का सुमधुर विन्यास हुआ है, उसे झांक सकें। इन लीलाओं का हिन्दी कृष्ण लीला पर सीधा प्रभाव है और इस प्रभाव का कारण है-

'धर्मत्त्व और लोक भावना का मणिकांचन योग।

मध्ययुग का कृष्णलीला काव्य इसी पौराणिक लीलादर्श की लोक प्रतिध्वनि है। हिन्दी कृष्णलीला काव्य पर इसकी छाप सर्वाधिक स्पष्ट है। पौराणिक कृष्ण लीला के अनुशीलन से इस प्रभाव का सम्यक आकलन किया जा सकता है। सम्प्रति इसी उद्देश्य से पुराणों में भगवान कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं का अंकन प्रस्तुत किया जाता है। यहां प्रमुख तीन पुराणों का विवेचन किया गया है। जो इस प्रकार है- 1. विष्णु पुराण, 2. भागवत पुराण, 3. ब्रह्मवैवर्त पुराण

1. विष्णु पुराण :-

विष्णु पुराण वैष्णव पुराणों में एक प्राचीन पुराण है। वंकिमचन्द्र इसे हरिवंश पुराण से पहले की रचना मानते हैं।[1] विल्सन के अनुसार इसका रचनाकाल छठीं शती है। किन्तु भारतीय विद्वान इसे ईस्वी सन् के पूर्व या उसके आस-पास की कृति मानते हैं।[2] इसके पंचम अंश में कृष्ण का पूर्ण जीवन चरित है। और उनकी लीलाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन है। यह वैष्णव भक्तों के आदर्श का आलम्बन है। इसकी कृष्णलीला भागवत तथा हरिवंश से साम्य रखती है। 38 अध्यायों में यह वर्णन समाप्त किया गया है।

कृष्ण विष्णु के अंशावतार हैं। देवांगनाएं गोपियों के रूप में विष्णु के बिहारार्थ अवतीर्ण हुई है। उसके तेरहवें अध्याय में

---

1. कृष्ण चरित्र - वंकिम चन्द्र, पृष्ठ 103
2. सूर साहित्य - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ 6

कृष्ण का रास वर्णन परवर्ती पुराण भागवत के ढंग पर हुआ है। यह अंश ब्रह्म पुराण के 189वें अध्याय से हू-बहू मिल जाता है। यहां गोपियों में कृष्ण की प्रियतमा 'कृतपुण्यामदालसा' (श्लोक 33) गोपी का उल्लेख मिलता है। इसने पूर्वजन्म में भगवान विष्णु की अभ्यर्चना की थी। इसलिए इस जन्म में उसे कृष्ण का विशेष प्रेम प्राप्त हुआ। कदाचित इसी 'अभ्यर्चना' शब्द के आदर्श पर भागवत में 'अनयाडराधितों' शब्द से गोपी विशेष के सौभाग्य की सराहना की गयी है।[1] तट पर खड़े गोप-गोपी उद्विग्न और विलाप करते दिखाये गए हैं। गोपी विलाप के इस प्रसंग में कृष्ण के बिना ब्रज को वृष के बिना गाय[2] कहा गया है। इससे कृष्ण के प्रति गोपियों के श्रृंगारिका दृष्टिकोण का पता चलता है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम सम्बन्ध (काम सम्बन्ध) की यह प्रथम स्वीकृति है।[3] कृष्ण की यौवनलीला से सम्बद्ध रास, प्रिय प्रवास और गोपी- उपालंभ ये तीन प्रसंग द्रष्टव्य हैं। 13वें अध्याय में रास वर्णन है। वंशी ध्वनि से मंत्रमुग्ध गोपियां रास मंडप की ओर खिंची चली आती हैं किन्तु वहां पहुंचने पर कृष्ण उन्हें नहीं मिलते। वह किसी प्रमाणिक प्रिया गोपी को साथ ले कही निकल पड़ते हैं। पद चिन्हों से गोपियां यह भली भांति भाप लेती हैं कि कृष्ण किसी रमणी के साथ हैं किन्तु आगे चलकर उस पुष्य शीला के भी त्याग देने का संकेत मिलता है। वे यमुना तट पर कृष्ण लीला का

---

1. हिन्दी काव्य में कृष्ण चरित का भावात्मक स्वरूप विकास- तपेश्वर नाथ पृष्ठ 86
2. 'बिना वृषेण का गावो बिना कृष्णेन को ब्रजः' ---- विष्णु पुराण 5,7,27
3. हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप-डा0 मिथिलेश कान्ति पृष्ठ 43

अनुकरण करतीं हैं। उसी समय कृष्ण प्रकट होते हैं और पुनः रास मंडल का निर्माण कर रास रचाते हैं। गोपी प्रेम का विप्रलंभ रूप कृष्ण के मथुरागमन के अवसर पर गोपियों के वियोग में प्रकट हुआ है इसमें उपालंभ का अंश है। गोपियां नागर वनिताओं के प्रेम पाश में आबद्ध होकर उन्हें विसरा देने वाले कृष्ण को कोसती हैं।

विष्णु पुराण में कुब्जा का विशेष उल्लेख नही है। हाँ, 24वें अध्याय में बलराम के ब्रजागमन पर गोपियां उन्हें जी भर उपालम्भ देती हैं। वे उन पर नागरियों के प्रेम में फंसने का आरोप लगाती है। उनके लिए अपने माता-पिता, बन्धु-भ्राता तथा पति के त्याग का उल्लेख कर अपना पश्चाताप व्यक्त करती हैं। पुनः स्वाभिमान से भरकर कहती है कि जब हमारे बिना उनकी बन गयी तो हम भी उनके बिना निभा ही लेंगीं। इस उक्ति में निराशा अत्यन्त करूण स्वरों में प्रकट हुई है। इस पुराण के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा लीलाओं का हिन्दी कृष्ण लीला काव्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है।

2. भागवत पुराणः-

श्रीमद्‌भागवत कृष्ण-लीला का सर्वाधिक सुव्यवस्थित कोश है। महाभारत से लेकर पुराणों तक कृष्ण का जितना भी विवेचन हुआ है सब समन्वित रूप में भागवत में मिल जाता है।[1] श्रीमदभावत में प्रथम बार कृष्ण की बाल, किशोर और यौवन लीलाओं का व्यापक विन्यास हुआ है।

---

1. हिन्दी कृष्ण भक्त काव्य पर पुराणों का प्रभाव- डा0 शशि अग्रवाल, पृष्ठ 20

वैष्णव धर्म के प्रायः सभी भक्ति सम्प्रदाय इससे प्रभावित हैं। विशेषतः वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय यह प्रस्थानत्रयी (उपनिषद –भगवतगीता–ब्रह्मसूत्र) के समान उप जीव्य ग्रन्थ के रूप में मान्य रहा।[1] वल्लभाचार्य ने भागवत पुराण की महर्षि व्यास की समाधि भाषा कहकर समादृत किया[2] श्रीमदभागवत के दशमस्कन्ध में भगवान कृष्ण की अवतार लीलाओं का क्रमबद्ध चित्रण हुआ है। हिन्दी काव्य की कृष्ण लीला पर जिनका प्रतिनिधि रूप सूरदास के सूरसागर में व्यक्त हुआ है – इस पुराण का सर्वाधिक प्रभाव है। बाहर से देखने पर तो सूरसागर श्रीमद्‌भागवत का अनुवाद सा प्रतीत होता है। पर वस्तुतः उसकी मौलिकता अपने आप में सुस्थिर हैं।

स्थूलतः भागवत वर्णित कृष्ण लीला को तीन वर्गो में रखा जा सकता है – (i) बाल लीला (ii) किशोर लीला और (iii) यौवन लीला।

यद्यपि कृष्ण व्रज में 11 वर्ष की अवस्था तक ही रहे तथापि अपनी अतिमानवीय प्रकृति अथच दिव्यशक्ति के माध्यम से अवस्था सुलभ दुर्बलता और सुकुमारता को अतिक्रान्त कर अपने अदभुत पराकम और रमणशीलता का परिचय दिया। अतः इस छोटी उम्र में व्रज में, उनके द्वारा किये गए सारे पराक्रमपूर्ण कृत्य तथा यौवनपूर्ण लीला केलि विस्मयोद्रेचक है। रस दृष्टि से भी इन लीलाओं के 3 वर्ग किए जा सकते हैं :– 1. वात्सल्य 2. वीर और 3. श्रृंगार।

---

1. भागवत सम्प्रदाय – पं0 बलदेव उपाध्याय पृष्ठ 147–148
2. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, पृष्ठ 49

वात्सल्य लीला के अन्तर्गत ललित-मधुर बालकृष्ण और उनकी सारी चपल चेष्टाएं आती हैं। जिनके आनन्द की आश्रय माता यशोदा तथा नन्द और उनके अन्य सहयोगी गोप गोपियां हैं। वीर रस के अवतारी कृष्ण और उनके द्वारा वध किए जाने वाले असुरों के प्रसंग अन्तर्मुक्त हैं। यद्यपि नितान्त बाल रूप में कृष्ण के द्वारा इन भयंकर राक्षसों के विनाश के पीदे उत्साह की अपेक्षा विस्मय भावना के उद्रेक की अधिक अनुकूल स्थित प्रतीत होती है। इसलिए इसे अदभुत रस के अन्तर्गत भी परिगणित किया जा सकता है, किन्तु जिस माया शक्ति के संचार से ये सारी लीलाएं आयोजित हुई, उनके मूल में ही विस्मय की भावना वद्धमूल है। यह विस्मय सम्पूर्ण कृष्णलीला का आधार है और तज्जन्य आनन्द का हेतु भी। इसलिए प्रकृत रस दृष्टि से असुर वध के वृतान्त को वीर रस के अन्तर्गत ही परिगणित किया गया है। स्थान की दृष्टि से इनके दो वर्ग हैं- 1. गोकुल और 2. वृन्दावन। गोकुल से वृन्दावन विस्थापन की चर्चा प्रायः सभी पुराणों में हुई है।

(i) **बाल लीला :-**

बाल लीला के चित्रण में स्कन्ध 10, अध्याय 6 से लेकर अध्याय 18 तक के वृतान्त लिये जा सकते हैं। इसके अन्तर्गत आने वाली प्रमुख लीलाओं का विवरण निम्नलिखित है :-

1. पूतना वध स्कन्ध-10 अध्याय-6, श्लोक 13
2. शकट भंग स्कन्ध 10 अध्याय 7, श्लोक 9
3. तृणावर्त वध स्कन्ध 10 अध्याय 7, श्लोक 29

4. नामकरण मृत्तिका-भक्षण, मुख में विश्व रूप दर्शन, 8वां अध्याय

उखल बन्धन-स्कन्ध-10, अध्याय 9

5. यमलार्जुनोद्धार स्कन्ध 10 अध्याय - 10

गोकुल में कृष्ण की उक्त 5 प्रकार की लीलाएं ही हुई। इन सभी लीलाओं में उनकी अद्‌भुत शक्ति का प्रदर्शन हुआ है। किन्तु, यह उनकी माया का ही प्रभाव है कि भोले-भाले ब्रजवासी उनके ब्रह्मत्त्व की याद अक्षुण्ण नहीं रख पाते। इसी कारण वे मनुष्य रूप में उनकी इन लीलाओं के प्रति विस्मय विमुग्ध होकर भी धर्म-विमूढ़ नहीं होते। और कृष्ण को अपने ही बीच का एक विलक्षण संस्कार सम्पन्न बालक समझकर प्राणपण से प्यार और दुलार किया करते थे। यही कारण है कि गोकुल में आये दिन होनेवाली दुर्घटनाओं से सशंकित होकर गोपेश नन्द ने वृन्दावन वास का संकल्प लिया। और सम्पूर्ण गोकुल एक दिन उठकर यमुना तटवर्ती वृन्दावन की श्यामल वन भूमि में आ बसा। श्रीमद्‌भागवत की अन्य पश्चाद्‌वर्ती लीलाएं इसी वृन्दावन लीला के अन्तर्गत आती है। कृष्ण इस समय तक प्रायः पांच वर्ष के हो गये थे। उनकी वृन्दावन लीलाएं इस प्रकार हैं :-

6. वत्सासुर वध- स्कन्ध 10 अध्याय 11, श्लोक - 43
7. वकासुर- वध - स्कन्ध 10 अध्याय 11, श्लोक -50
8. अधासुर -वध स्कन्ध 10 अध्याय 12, श्लोक
9. (क) ब्रह्मा द्वारा

गोवरूस हरण स्कन्ध 10 अध्याय 13

(ख) ब्रह्म मोहभंग - स्कन्ध 10 अध्याय- 13

(ग) गोवत्स प्रत्यावर्त - स्कन्ध 10 अध्याय 14

10. धेनुकासुर वध -स्कन्ध 10 - अध्याय-15 श्लोक-40 इस असुर वध में यद्यपि कृष्ण और बलराम दोनों ने सहयोग किया किन्तु मरण बलराम के हाथों ही वर्णित है।

11. कालिय दमन -स्कन्ध 10 अध्याय-16

यद्यपि विष्णु पुराण में कृष्ण-कालिय संघर्ष जल में ही दिखलाया गया है किन्तु उस पुराण में कालिय का यमुना जल से बाहर निकल कर सूखे में प्राण त्यागना वर्णित है। यहां कालिय दमन के अभीष्ट से यमुनातट पर कन्दुक-क्रीड़ा करते हैं। किन्तु जब कालिय के विष से विषाक्त यमुना जल से संग्रस्त प्राणियों के उल्लेख से कालिय दमन का औचित्य एक बार प्रकट हो चुका है तो पुनः इस गेंद सम्बन्धी दूसरे ब्याज का कारण कृष्ण की लोकातीत कल्याणवृत्ति पर लौकिक बाल-क्रीड़ा का रंग चढ़ाना ही हो सकता है। इसी रात जंगल में आग लगती है और कृष्ण नन्द यशोदा के आवाहन अग्नि पान कर जाते हैं।

12. दावानल पान , स्कन्ध 10 अध्याय 17

13. प्रलम्बासुर वध " " 18

प्रलम्ब गोप रूपी राक्षस है जिसका वध कृष्ण की मन्त्रणा से बलराम करते हैं। उक्त अवसरों पर कृष्ण ब्रजाधिपति नन्द गोप के पुत्र और ग्वालबालों के सच्चे नायक के रूप में मान्य हैं। उनके साहसपूर्ण वीरचरित्र, गोपों को संकट कालीन स्थितियों से मुक्त

करने की सामर्थ्य, उनका पूर्ण आत्मविश्वास उन्हें सब मिलाकर एक असाधारण व्यक्तित्व प्रदान करते है। यदा कदा उनका विष्णु तेज भी प्रकट हुआ है। किन्तु तत्काल उन्होंने अपनी माया का संचार कर गोपों की महात्म्य वृद्धि पर एक आवरण डाल दिया है परिणामतः ईश्वर के रूप में होकर भी वह सदा ब्रजवासियों के प्रेम भाजन ही बने रहे।

(ii) किशोर लीला :-

यही वह सीमा रखा है जहां पुराण कृष्णलीला की रमणीय भूमि में पदार्पण करता है। आगे पांच अध्यायों में किशोर कृष्ण की कमनीय छवि, प्रकृति की प्रफुल्लित पृष्ठिभूमि तथा प्रेमोमंग और उल्लास की प्रदायिनी मोहन की वंशी ध्वनि के साथ गोपी लीला का धूमधाम से समारंभ हो जाता है यही कृष्ण की किशोर लीला है। चीरहरण इनका चूड़ान्त है।

विद्वानों ने ब्रह्म मोह भंग (अध्याय 14) तथा धेनुक वध (अध्याय 15) की मध्यान्तरित अवधि में ही कृष्ण में यौवनागमन के लक्षण बतायें है।[1] कृष्ण इस समय कुल 8 वर्ष के हैं। उनके चरित्र में वन विहार के नाना मोदमय दृश्य प्रतिबिम्बित हुए हैं। वे इस समय ग्वाल सखाओं के साथ मधुर-मुखर और केका ध्वनित वन में मोद मनाते हैं। कभी पुष्प-मात्यों से, कभी मयूर पंख तो कभी पर्वतीय धातुओं से नाना रंग-छवि में सजते हैं। पत्र शय्या रचते है। किशोर लीला के अन्तर्गत 5 प्रसंग है :-

---

1. आर्चर- द लब्स आफ कृष्ण : बाल लीला- शीर्षक अध्याय दृष्टव्य तथा हिन्दी भक्ति श्रृंगार स्वरूप- डा0 निधिकेश कान्ति- पृष्ठ 45

1. शरदवर्णन –दशम, स्कन्ध–अध्याय – 20
2. वेणुगीत – दशम स्कन्ध – अध्याय –21
3. चीरहरण – दशम स्कन्ध – अध्याय – 22
4. यज्ञपत्नी अनुग्रह, दशम स्कन्ध – अध्याय 23
5. गोवर्धन धारण दशम स्कन्ध – अध्याय 24

इसमें अन्तिम को छोड़ शेष सभी प्रसंग श्रीकृष्ण की श्रृंगार लीला से सम्बद्ध हैं।

दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में शरद और वर्षा के अलंकृत वर्णन है जिनके अनुकरण पर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस में वर्षा और शरद का वर्णन किया है।[1] इक्कीसवे अध्याय में वेणुगीत है। शरद ऋतु में बनराजि विकच सुमनों से शोभायमान थी, सरोवर सरिताएं और पार्वत्य प्रान्त निर्मल आभा से सम्पन्न थे। श्री कृष्ण ने गौवों को चराते हुए अपनी बांसुरी पर मधुर तान छेड़ी। वंशी की यह मोहक ध्वनि भगवान के प्रति प्रेमभाव को जगाने वाली थी। व्रज की गोपिकाओं ने जब यह मादक ध्वनि सुनी तो उन्हें श्रीकृष्ण की चेष्टाएं याद आ गयी। उनका मन हाथ से निकल गया और दर्शन की आकांक्षा से श्री कृष्ण के पास पहुंच गई। इस स्थल पर भागवतकार ने मुरली पर जो कल्पनाएं की है, वे सूरसागर की भांति मधुर, श्रृंगारमयी एवम् अद्‌भुत हैं। बाइसवें अध्याय में चीरहरण लीला प्रसंग है। यज्ञपत्नी अनुग्रह के प्रसंग में कृष्ण का गोपी–जन–वल्लभ रूप ही उदभाषित होता है। गोवर्धन धारण इस

---

1. भारतीय साधना और सूर साहित्य–डा0 मुंशीराम शर्मा पृष्ठ 192

श्रृंखला की अगली कड़ी है। गोवर्धन धारण लीला द्वारा देववाद को मात देकर मानवीय शौर्य, प्रेम और सदाचार की प्रतिष्ठा करते हैं। इन्द्र–महिमा के स्थान पर कृष्ण महिमा की स्थापना होती है। इन्द्र महिमा के पतन से वैदिक धर्म का अवसान होता है। और कृष्ण–महिला के उदय से प्रेम प्रधान वैष्णव भक्ति का उत्थापन होता है।[1] आगामी यौवन लीला जहां गोपियां अपने को सर्वतोभावेन कृष्णार्पित करती हैं, इस भक्ति के चरम निगूढ़ रहस्य को परखा जा सकता है।

(iii) **यौवन लीला :–**

इस लीला का वास्तविक प्रारम्भ उन्तीसवें अध्याय से माना जा सकता है। अध्याय– 29 से लेकर 33 तक गोपी कृष्ण की रासलीला का सुमधुर वितान हुआ है। पांच अध्यायों में विधिवत् सम्पन्न होने के कारण इसे 'रासपंचाध्यायी' भी कहते हैं।

रास पंचाध्यायी के क्रमिक प्रसंग इस प्रकार हैं :–

1. (क) वेणु नादाकर्षण

   (ख) रासारम्भ स्कन्ध 10, अध्याय–29

(ग) कृष्ण का अन्तर्धान होना

2. गोपियों का कृष्ण लीलानुकरण स्कन्ध 10, अध्याय –30

   कृष्ण प्रतीक्षा

3. गोपीगीत स्कन्ध–10 अध्याय–31

---

1. हिन्दी काव्य में कृष्ण चरित का भावात्मक स्वरूप विकास – डा0 तपेश्वरनाथ पृष्ठ 92

4. कृष्ण का अश्वासन स्कन्ध 10 अध्याय-32

5. महारास स्कन्ध-10 अध्याय-33

कृष्ण लीला में रास को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भागवतकार ने रासलीला का तन्मयतापूर्वक वर्णन किया है और उसकी अध्यात्मिकता का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। भगवान कृष्ण ने चीरहरण के समय ही गोपियों को रासलीला का संकेत दे दिया था। अब उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रसक्रीड़ा करने का संकल्प किया। संकल्प के जागृत होते ही चन्द्रदेव ने प्राची दिशा के मुखमंडल पर अपने शीतल करों से लाल-रोली केशर मल दी। अखण्ड चन्द्रमण्डल पूर्णिमा की विभावरी में पीयूष की वर्षा करने लगा। समस्त वन-प्रान्तर अनुराग की लालिमा से अनुरंजित हो उठा। श्री कृष्ण का वंशीवादन प्रारम्भ हुआ।

गोपियों का मन पहले से श्याम सुन्दर के वशीभूत था, अब तो उनकी सारी प्रवृत्तियां-भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा छिन गई। उनकी विचित्र गति हो गई वे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सम्बन्धी समस्त कार्यो को छोड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुंच गई। जो गोपियां श्री कृष्ण के पास पहुंची, उन्हें वे पातिव्रत धर्म की याद दिलाते हैं। तथा लौट जाने का उपदेश देते हैं। गोपियां इस विरूद्धधर्मी नायक की वक्रोक्ति से रो पड़ती हैं। अन्ततोगत्वा गोपियों के द्वारा अपने सर्वस्व समर्पण कर दिये जाने तथा उन्हें अपना सर्वस्व मान लेने पर वह प्रसन्न होते हैं, और देखते ही देखते यमुना तट की वह क्षुब्ध बेला

नृत्य, गीत और प्रणय कूंजन से मुखरित हो उठती हैं। आनन्द और प्रेम के समुद्र में ज्वार उठ जाता है।

रास मग्न गोपियों को जब यह अभिमान होने लगा कि भगवान के साथ रमण करने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ हैं, तो श्रीकृष्ण उनका गर्व भंग करने के लिए अन्तर्धान हो गये। भागवतकार के दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में गोपियों का कृष्ण विरह में कातर एवम् दयनीय दशा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवम् हृदय-दावक चित्र खींचा है। इक्कीसवें अध्याय में गोपिकाए विरहावेश में जो करूण गीत गाती हैं, वह भी कल्पना एवं भाव-गरिमा की दृष्टि से अनुपम है। इस करूण रूदन से अभियान का भी मान गलित एवं क्षरित हो गया। पश्चात्ताप की पावक ने गर्व की पापशयता को क्षार-क्षार कर दिया। आत्मा फिर अपने स्वरूप में अवस्थित हो गयी और परमात्मा ने उसे अपना दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। श्री कृष्ण प्रकट हो गए और गोपियों को सांत्वना देते हुए कहने लगे कि मैं तो तुम्हारे पास ही था। अब महारास फिर आरम्भ हुआ। जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी पदछाई के साथ क्रीड़ा करता है, वैसे ही रमा-रमण व्रज सुन्दरियों के साथ विहार करने लगे।[1]

भगवान का संस्पर्श पाते ही गोपिकाएं प्रेम और आनन्द से विह्वल हो गयीं। वे अपने शारीरिक संभार को संभालने में असमर्थ हो गई। भागवतकार महारास का श्रृंगारमय वर्णन करने

---

1. श्रीमद भागवत 10,33,17

के उपरान्त हमें फिर सम्हाल लेता है और कहता है ''प्रभु सत्यकाम हैं। यह लीला, प्रेमभाव उनके अन्दर अवरूद्ध है, उनके वश में है।[1]

इसके अनन्तर अध्याय 37 तक अरिष्ट, केशि, व्योम आदि असुरों का वध वार्षित है। 38वें अध्याय में अक्रूर का आगमन होता है। 39वें अध्याय में बलराम कृष्ण के मथुरा प्रवास तथा गोपियों के करूण वियोग का हृदय द्रावक चित्रण हुआ है। 42वें अध्याय में कुब्जा प्रसंग है। 46वें अध्याय में कृष्णसखा उद्धव का व्रजागमन वर्णित है। 46 से 47 अध्याय तक सुप्रसिद्ध भ्रमरगीत का प्रसंग है। हिन्दी काव्य में इसका अति विस्तृत वर्णन हुआ है। 48वे अध्याय में कृष्ण कुब्जा को दिये गये वचन पूर्ण करते हैं।

कृष्ण द्वारिका चले जाते हैं। किन्तु कृष्ण के रस स्निग्ध हृदय में व्रजप्रेम की सुधि अब भी ताजी है अध्याय 82वे में वह उसी उद्देश्य से सूर्यग्रहण के उपलक्ष्य में कुरूक्षेत्र में आते हैं। यहाँ गोपियों से उनका पुनर्मिलन होता है किन्तु वह प्रेम वार्ता न कर एक शुष्क प्रवचन दे जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण भागवत की कृष्णलीला के तनिक विस्तृत सर्वेक्षण से उनकी प्रेमधर्मिता प्रकट होती है। इसमें भगवान कृष्ण को विभिन्न भाव-भूमि में रखकर उनके साथ सुमधुर मानवीय सम्बन्धों की स्थापना की गई है। इन सम्बन्धों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पांचों भाव मूर्त हो गये हैं भगवान कृष्ण इन सभी भावों में ललित आलम्बन हैं। इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत में श्री कृष्णलीला की वह समस्त सामग्री मूल रूप में विद्यमान है जिसका आधार बनाकर सूरसागर के भव्य भवन

1. श्रीमद्‌भागवत 10,33,26

का निर्माण हुआ। इस भवन में भावुक कलाकार सूर की कान्त कल्पना ने अनेक नवीन रंग भरे हैं ओर भाव प्रवणता की रत्ना राजि ने उसे जगमगा दिया है।[1]

(3) ब्रह्मवैवर्त पुराणः–

आधुनिक वैष्णव पुराणों में भागवत के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पुराण ब्रह्मवैवर्त है। राधावाद का यहाँ चरम प्राधान्य है। इस राधा के आश्रय से श्रृंगारी वैष्णवता अपने पूर्ण अनावृत्त स्वरूप में यहाँ प्रकट हुई है। यह अपने प्राप्त रूप में आधुनिक कृति है। प्रस्तुत पुराण में कृष्णलीला सम्बन्धी कुछ ऐसी सामग्री है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। यह सामग्री इस पुराण के कृष्ण जन्मखण्ड के अन्तर्गत है, जो पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित है।

पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में ही नारद भगवान नारायण से पूछते हैं:–

> का वा गोपांगना के वा गोपाला वालरूपिणः।
> का वा यशोदा को नन्दः किं वा पुण्यं चकार ह।। 1.13

कृष्ण लीला में जो गोपांगना और बालरूप गोपाल आते हैं, वे कौन हैं? यशोदा और नन्द ने ऐसा कौन सा पुण्य किया था, जिससे श्रीकृष्ण जैसे पुत्र के उन्हें दर्शन हुए? श्रीकृष्ण की जन्मकथा को नारद वैष्णव भक्तों का जीवन सर्वस्व और संसार को पवित्र करने वाला कहते हैं।

---

1. भारतीय साधना और सूर साहित्य- डा0 मुंशीराम शर्मा पृष्ठ 196

द्वितीय अध्याय में कथा है कि एक बार श्रीकृष्ण गोलोक में राधा को छोड़कर निरजा के पास चले गए। इस वृतान्त-को सखियों से जानकर राधा बड़ी कुपित हुई और जहाँ कृष्ण और निरजा विहार कर रहे थे, उस रत्नमंडप में वह सखियों के साथ पहुंची। वहां द्वार पर श्रीदामा प्रहरी थे। श्रीदामा ने राधा को अन्दर जाने से रोका। द्वार पर कोलाहल सुनकर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये ओर विरजा ने प्राण त्याग कर नदी का रूप धारण कर लिया। तीसरे अध्याय में श्री कृष्ण का सुदामा के साथ राधा के कोप मन्दिर द्वार पर जाने का वर्णन है। उसी अवसर पर राधा और श्रीदामा ने एक दूसरे को शाप दिया जिससे दोनों गोप गोपी के रूप में व्रज में उत्पन्न हुए। राधा ने श्रीकृष्ण के प्रति भी कोप-कटु वचनों का प्रयोग किया और उन्हें भारत में मानुषी योनि में जन्म लेने का शाप दिया।[1] चतुर्थ अध्याय में गोलोक का वर्णन है। वहाँ रहने वाली गोपियों के क्रिया कलापों और रूप श्रृंगार का वर्णन अत्यन्त मनोहर है[2]? इसमें राधा की 33 सखियों के नाम गिनाए हैं।[3]

अध्याय 9 में श्रीकृष्ण के जन्म समय पर उनका रूप वर्णन किया गया है। उनका शरीर अभिनव जलद की प्रभा से मंडित था। शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के समान उनका मुख मण्डल था और इन्दीवर कमल के समान नेत्र थे। वे रोते थे, हंसते थे, शरीर से वंशी

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण चतुर्थ भाग- 3-59-62
2. वही ” ” 4.174-178
3. वही ” ” 4. 181-185

चिपटी थी। प्रेम से परिप्लुट उनके सविन्यस्त हस्त और लाल कमल के सामान पैर थे।[1]

अध्याय 14 के प्रारम्भ में यशोदा के स्नानार्थ यमुना चले जाने पर श्रीकृष्ण द्वारा गृह में स्थित तथा पूजा के लिये शकट में रखे हुए दही, दूध, घी, मट्ठा, मक्खन और मधु के खा पी जाने का वर्णन है। यशोदा जब लौटकर आई तो क्रोध में भरी हुई वेत्र लेकर कृष्ण के पीछे दौड़ी। मां को थकी हुई जानकर कृष्ण भी ठहर गये और परिणामतः एक वृक्ष में वस्त्र द्वारा बांध दिये गये। यह वृक्ष यमलार्जुन था, जो श्रीकृष्ण के स्पर्शमात्र से ही टूटकर गिर गया। जैसे सूर ने 'नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाई'- शीर्षक पद में यशोदा का नन्द पर कोपाभिव्यंजन किया है, वैसे ही इस अध्याय में नन्द क्रोध में रक्त-पंकज-लोचन होकर यशोदा से कहते हैं : यदि पुत्र ने दधि आदि खा लिया तो क्या हुआ? यदि वृक्षापात से बालक का कुछ अनिष्ट हो जाता तो घर में रखी वस्तुएँ किस काम आतीं? मैं अपने बच्चों को लेकर तीर्थ करने जाता हूँ अथवा तुम्हीं घर से चली जाओ। शतकूपों से अधिक वापी, शत वापियों से अधिक सरोवर, शत सरोवरों से अधिक यज्ञ, और शत यज्ञों से भी अधिक बढ़कर पुत्र जन्म माना जाता है। फिर यह पुत्र तो वृद्धावस्था में प्राप्त हुआ है। तप और दान का फल जन्मान्तर में मिलता है, पर सत्पुत्र तो इस लोक और परलोक दोनों में सुखदायक है। पुत्र से बढ़कर बन्धु न हुआ है और न होगा।[2]

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण चतुर्थ भाग- 9.57-59
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण - 14/23-27

अध्याय 15 में भाण्डीर वन में राधा और कृष्ण के विवाह का वर्णन है। एक दिन नन्द कृष्ण के साथ भाण्डीर वन में गौएं चरा रहे थे, इसी बीच में श्रीकृष्ण ने अपनी माया से आकाश को मेघाच्छन्न कर दिया। झंझावात दारूण वज्र जैसा शब्द करता हुआ बहने लगा। वृष्टिधारा से पादप कांपने लगे। नन्द चिंतित होकर सोचने लगे कि कृष्ण को घर कैसे पहुंचाऊँ। इतने में राधा वहां आ गई और नन्द ने उसे कृष्ण को घर पहुंचाने के लिये कहा।[1]

राधा कृष्ण को लेकर चलीं और इसी भांडीर वन में एक अत्यन्त सुन्दर मंडप के नीचे ब्रह्मा ने उन दोनों का विवाह करा दिया, जिसमें सभी विधि अनुष्ठान किए गए- हवन हुआ, सात प्रदक्षिणाएं हुई, पाणिग्रहण हुआ, वेदोक्त सप्तमंत्रों से सप्तसदी का पाठ हुआ और दोनों ने एक दूसरे के गले में पारिजात पुष्पों की माला डाली।[2]

अध्याय 16 में वकासुर, प्रलम्ब, केशि आदि के वध की कथा है। श्लोक 85 से 87 तक, राधा के ध्यान करने का उल्लेख करते हुए कवि राधा को रासेश्वरी रम्यरासोल्लासरसोत्सुका, रास-मंडल-मध्यस्थ, रसाधिष्ठातृदेवता रासेश्वरीरः स्थलस्य, रसिका, रसिकप्रिया, रमा, रमणोत्सुका और शरद्राजीवराजिप्रभा-मोचन-लोचना जैसे श्रृंगारी तथा साहित्यिक विशेषणों से अलंकृत करता है। अध्याय

---

1. इसी कथा के अनुसार पर गीत गोविन्द के इस प्रथम श्लोक की रचना हुई है- मेघैर्मेदरमम्बरं बनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः। गीतगोविन्द 1/1
2. ब्रह्मवैवर्व पुराण 15/122-128

17 में वृन्दावन का वर्णन है और राधा के सोलह नामों का व्याख्या के साथ स्त्रोत है। यहां पर राधा को कृष्ण पत्नी तथा कृष्ण के वामांग में स्थित बताया है।[1]

अध्याय 19 में कालिय नागदमन लीला है। जब श्री कृष्ण कालिय दमन के पश्चात् यमुना से निकले, तो गोप तथा गोपियां प्रसन्न होकर उनकी ओर देखने लगे। श्री कृष्ण ब्रह्मतेज से जाज्वल्यमान हो रहे थे। शिर पर मोर के पंखों का मुकुट था, अधरों पर वंशी थी। यशोदा ने उन्हें देखते ही छाती से लगा लिया और नन्द, रोहिणी आदि ने उनका मुँख चूमकर गोंद में उठा लिया। इसी समय सहसा दावाग्नि भड़क उठी, जो श्री कृष्ण की अमृत दृष्टि पड़ते ही दूर हो गई।

अध्याय 20 में ब्रह्मा द्वारा गोवत्स हरण का प्रसंग है। अध्याय 21 में इन्द्र यज्ञ भंजन और गोवर्धन धारण की लीला है। अध्याय 22 में धेनकासुर वध का वर्णन है। अध्याय 27 में गोपी वस्त्रापहरण तथा अध्याय 28 में रास क्रीड़ा का स्थान है। रासलीला के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तकार लिखते हैं :-

कथा पुराण साराणां रासयात्रा हरे रहो।
हरिलीलाः पृथिव्यां तु सर्वाः श्रुति मनोहराः।।[2]

यद्यपि श्रीकृष्ण की सभी लीलाएं मनोहर हैं, किन्तु रासलीला तो सम्पूर्ण पुराणों का सार ही है।

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण 17/221-224
2. ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण खण्ड 28/4

वृन्दावन में श्री कृष्ण के वंशी को सुनकर सभी गोपियां अपने घरों को छोड़कर कृष्ण के समीप पहुंची। गोपी भी वहां एकत्रित हो गए। नौ लाख गोपियां और अठारह लाख गोपी ने इस रासमण्डल में भाग लिया। इस श्रृंगार में कर्पूर सहित तम्बूल, चंदन, कस्तूरी आदि द्रव्य, पुष्पलीलाएं, मुक्तकेश, विच्छिन्न भूषण, कंकण–किंकिणी–वलय नपूर आदि के शब्द आश्लेषण, जलक्रीड़ा आदि कामशास्त्र की सभी सामग्री विद्यमान है।

अध्याय 52 में पुनः राधामाधव के रासवर्णन का प्रसंग है। गोपियों के मान और कोप का वर्णन है। उन्होंने कृष्ण को प्राणचोर, निष्ठुर और नरघाती कह डाला है[1]। इस अध्याय में कृष्ण की अपेक्षा राधा का महत्त्व अधिक बताया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय में इन्हीं विचारों के आधार पर आगे चलकर राधा के महत्त्व की स्थापना हुई।[2]

अध्याय 53 में भाण्डीर वन में गोपियों के साथ राधा और कृष्ण के विहारों का वर्णन है। इस विहारलीला में छत्तीस प्रकार के रागं रागिनियों में गोपिकाओं का वेष धारण करके योग दिया है। यहां पर भी उन्मुक्त श्रृंगार का वर्णन मिलता है।

अध्याय 63 में कंस द्वारा रात्रि में देखे हुए दुःस्वपनों का वर्णन है। अध्याय 64 में कंस धनुर्यज्ञ में भाग लेने के लिए राजाओं के पास निमंत्रण भेजता है। अक्रूर कृष्ण को बुलाने के

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण खण्ड 28/20–23
2. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा पृ० 185

लिये गोकुल जाते हैं। अध्याय 69 में राधा और कृष्ण की रास-रमण क्रीड़ा का श्रृंगार पूर्ण वर्णन है। इसमें सोलह हजार स्त्रियों के साथ श्री कृष्ण के विवाह का संकेत मिलता है।[1] अध्याय 70 में अक्रूर वज्र में पहुंच जाते हैं। नन्द अक्रूर का आतिथ्य सत्कार करते हैं। अक्रूर समस्त वज्र को श्रीकृष्णमय देखते हैं और भावतिमोर होकर उनकी स्तुति करते हैं।

अक्रूर कृष्ण और बलराम के मथुरा ले जाने के लिए उद्योगशील है, यह देख कर राधा कुपित होती हैं और गोपियों को भेज कर उसका रथ भंग कराती है। गोपियां अक्रूर को क्रूर कहती हैं और अपने कंकण तथा करों द्वारा उसे भी वस्त्र विहीन तथा सर्वांग में क्षत-विक्षत कर देती है। श्री कृष्ण राधा को समझाते हैं और उस दिन वज्र में ही रह जाते हैं। अध्याय 71 में रात्रि में तृतीय प्रहर के समाप्त होने पर, राधा और गोपियों को सुप्तावस्था में छोड़कर श्रीकृष्ण बलराम, नन्द और अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं।

अध्याय 72 में कृष्ण की कृपा से कुब्जा सुरूपती बनती है। कृष्ण कुब्जा के घर जाते हैं। श्लोक 59 से 64 तक कुब्जा के साथ श्रृंगार रमण का वर्णन है और कुब्जा के पूर्व जन्म की सूर्पणखा बताया है। कंस वण्ध, उग्रसेन को राज्यपद पर प्रतिष्ठित करना आदि का सामान्य वर्णन है।

अध्याय 73 में नन्द कृष्ण को छोड़ कर ब्रज आते हुए अत्यन्त विरह कातर हो जाते हैं। उस समय श्रीकृष्ण उन्हें आध्यात्मिक बोध देते हैं।

अध्याय 90 के अन्त में नन्द कृष्ण से एक बार कुछ दिनों के लिये गोकुल हो आने के लिये कहते हैं जिससे यशोदा, रोहिणी, राधा, गोप तथा गोपियों को आश्वासन प्राप्त हो। अध्याय 91 के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण नन्द से कहते हैं कि वे उद्धव को गोकुल भेज रहे हैं, जो सबको जाकर समझा देंगे। उद्धव श्रीकृष्ण की आज्ञा से आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ब्रजवासियों को प्रबोध देने के लिये चल देते हैं।

अध्याय 92 में उद्धव यशोदा और रोहिणी के पास पहुँच जाते हैं। वे उद्धव को आसन, जल दुग्ध और मधु प्रदान करती हुई नन्द, बलराम और श्रीकृष्ण का समाचार पूछ्ती हैं। उद्धव सबको आश्वासन देनकर चन्द्रमण्डल के समान वर्तलाकार, सैकड़ों कदला स्तम्भों से सुशोभित, स्निग्ध वसनों और चन्दन पललवों से युक्त, सुगन्धित द्रव्यों से परि संस्कृत रासमण्डल के पास पहुंचे। यह रास तीन करोड़ गोपियों से रसित था। इसमें तीन लाख सुन्दर, चम्पक, यूधिका, घेतका, माधवी, मल्लिका, पलाश, कर्णिका शलताल, हिंताल, रसाल, मन्दार आदि काननों की प्रदक्षिणा करते हुए सुन्दर कुन्द वन का उन्होंने दर्शन किया। इसके पश्चात् यशोदा के बताये हुए मार्ग से बदरीवन में पहुँचे। फिर श्रीफल, करवीर, तुलसी आदि वनों को देखते हुए उन्होंने कदलीवन में प्रवेश किया। यहीं अत्यन्त निर्जर, रम्य स्थान में राधिका का आश्रम था।

यह आश्रम रत्नेन्द्रसार से रचित, रत्न स्तम्भों से सुशोभित कलश और पताकाओं से परिष्कृत था। इसके सिंहद्वार पर

रत्न कपाट लगे थे। द्वार के ऊपर विचित्र वृन्दावन था। उद्धव उस द्वार को सामने देखकर अन्दर प्रविष्ट हुए। फिर दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे द्वार का उल्लंघन करके वे छठवें द्वार पर पहुँच, चहां भीतियों पर राम-रावण युद्ध के मनोहर चित्र बने हुए थे। विश्वकर्मा ने वहां विष्णु के दशावतार, कृत्रिम रासमण्डल तथा यमुना-जल-केलि के चित्र भी अंकित कर दिये थे। यह छठवां द्वारा सहस्त्र गोपिकाओं से रक्षित था, जिनके हाथों में हीरक भूषित रत्नदण्ड थे। इसमें प्रधान माधवी गोपी ने उद्धव के आगमन की सूचना राधा की प्रिय सखियों को दी, फिर शंख ध्वनि करके उद्धव को उत्तम आभ्यन्तर धाम में राधा के पास पहुंचा दिया।

उद्धव ने देखा, राधा कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में चन्द्र की क्षीण कला के समान क्षीण, लालनेत्र किए शोक मूर्छित अवस्था में पड़ी हुई हैं। उनका मुख रक्तवर्ण है। वह क्लेश से पूर्ण, निश्चेष्ट, निराहार और आभूषणों का परित्याग किये हुए रो रही हैं। उनके ओष्ठ और कंठ सूख गये है तथा सांस बहुत धीरे-धीरे चल रही है। राधा को देखते ही उद्धव के रोमांच खड़े हो गये। उन्होंने भक्तिपूर्वक राधा को प्रणाम किया।

अध्याय 93 में राधा और उद्धव का संवाद है। उद्धव के स्तवन को सुनकर राधा ने आंखे खोली, देखा कृष्ण की आकृति का एक पुरूष सामने खड़ा है। राधा ने उसका नाम और आने का प्रयोजन पूछा। उद्धव ने अपना नाम बताया और कहा- मैं क्षत्रिय हूँ, भगवान श्रीकृष्ण का पार्षद हूँ और उनका सन्देश लेकर आया हूँ। राधा

स्वेच्छया सगुणो विष्णुः स्वेच्छया निर्गुणो भवेत्।
भुवो भारावतरणे गोपवेशः शिशुर्विभुः।।[1]

ऐसे ईश्वर को जब सिद्ध आदि भी नही जानते, तो मैं कौसे जान सकती हूँ। गोपियों की इस प्रकार की बातें सुनकर उद्धव भक्ति विह्वल हो उठे। उनके शरीर में पुलकावलि खड़ी हो गई। आंखों से आंसू गिरने लगे। गोपियों के प्रेम के सामने अपने प्रेम को तुच्छ समझते हुए भक्ति गद्गद कंठ से वे कहने लगे– धन्य है जम्वूद्वीप और जम्बूदीप में भारतवर्ष जो गोपियों के चरण कमल की रज से पवित्र है। गोपियां भी धन्य हैं, जो राधा के पुण्य पादपद्मों का नित्य दर्शन करती हैं। मैं भी धन्य हूँ जो गोकुल आया और गोपियों से हरिभक्ति प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।

ब्रह्मवैवर्त में उद्धव को भ्रमर कहकर संबोधित नही किया गया। अध्याय 97 में कृष्ण सखा उद्धव मथुरा लौट आते हैं। अध्याय 98 में वह कृष्ण के समक्ष उनकी विरहिणी प्रेयसी की विरह दशा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं, साथ ही वह अपने द्वारा गोपियों को दिये गये कृष्ण मिलन के वचन की याद दिलातें हैं। कृष्ण स्वप्न में ही विरहाकुल गोकुल जाकर ब्रजवासियों को परितृप्त कर आते हैं। कृष्ण लीला के आगामी वृतान्त भागवत के ढंग पर ही है। 113वें 114वें अध्याय में, अति संक्षेप से, कृष्ण की महाभारत वर्णित कथा का संकलन कर दिया गया है यह संभवतः प्रक्षिप्त है।

---

1. ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खंड अध्याय 94 श्लोक 62

निष्कर्षतः ब्रह्मवैवर्त के कृष्ण निखिल देवत्त्व के संघीभूत स्वरूप हैं। 128वें अध्याय में श्रीकृष्ण लीला का विसर्जन होता है इस विसर्जन काल में भी इस लीला स्वरूप का संघ भावना चरितार्थ हुई है।

'रसिकेश्वर कृष्ण विश्वप्रिया राधा के साथ जब अपनी लीलाओं का सम्प्रसार और समापन करते हैं तो (128वें अध्याय में) श्रीकृष्ण विग्रह में से देवगण- विष्णु, नारायण, बालगोपाल आदि पृथक-पृथक प्रकट होकर पार्षदों सहित दिव्य विमान पर चढ़कर अपने-अपने धाम को चले जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्रह्मवैवर्त की कृष्णलीला में श्रीमद्भागवत् से भिन्न अनेकवाद के स्थान पर युगलवाद अथवा अद्वय युग्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। कृष्ण यहाँ वहुवल्लभ न होकर राधा वल्लभ या राधाकृष्ण हैं। यह प्रतिपत्ति, निश्चय ही, तंत्रवाद से प्रभावित है। जयदेव और विधापति की राधाकृष्ण श्रृंगार लीला इससे अनुप्राणित जान पड़ती है। हिन्दी के चैतन्य, राधावल्लभ आदि वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में इसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। महाप्रभु तो इस अद्वय युग्मवाद के साक्षात् प्रतीक ही थे। सूर साहित्य के विशेषज्ञ विद्वान सूर पर भागवत के बाद इसी का त्रृण स्वीकार करते हैं। विशेषतः राधा विषयक प्रसंग तो इसी से स्फूर्त है।'[1]

---

1. सूर और उनका साहित्य - डा0 हरवंश लाल पृष्ठ 179

ब्रह्मवैवर्त अपने वर्तमान स्वरूप में विवादास्पद होने के बावजूद, मध्ययुग में राधाकृष्ण के प्रचलित प्रेमाख्यानों का वह वर्द्धमान रस कोश है जिसके परिणाम स्वरूप कृष्ण लीला राधा कृष्ण, कृष्ण भक्ति, राधा कृष्ण भक्ति तथा कृष्ण काव्य राधा कृष्ण काव्य बन गया।[1]

---

1. हिन्दी अनुशीलन- धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक- डा० ब्रजेश्वर वर्मा-160

तृतीय अध्याय

----- 0 -----

लीला की तात्त्विकता और स्परूप का विवेचन

लीला की तात्त्विकता और स्वरूप का विवेचन

क- लीला की तात्त्विका का विवेचन :-

'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' 'पुरूष एवेदं सर्वम्' जैसे वेद वाक्य ब्रह्म की सत्ता का संकेत करते हैं। ब्रह्माण्ड की रचना से पहले पुरूष विद्यमान था। उसको लीला या क्रीड़ा की इच्छा हुई, इसलिए उसने जगत् के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया। भागवत में ब्रह्म को तत्त्व कहा गया है और वस्तुतः उस एक ही पदार्थ को तीन भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है- (1) ब्रह्म (2) परमात्मा और (3) भगवान। वह ज्ञानस्वरूप वस्तुतः एक ही परम तत्व दृश्य आदि अनेक भावों से प्रकट होता है। उपनिषद ग्रन्थों मे उसे 'परब्रह्म', योगशास्त्र में परमात्मा ईश्वर, सांख्यशास्त्र में 'पुरूष' और भक्तिशास्त्र में उसे भगवान कहा जाता है।[1]

भगवान सत् चित् आनन्द स्वरूप है। लीला भगवान के आनन्द स्वरूप का प्रकाश है। आनन्द बिना रस के संभव नही होता। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित हुआ है कि ब्रह्म रस स्वरूप है अर्थात् आनन्द स्वरूप है 'रसो वै सः'। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति,[2] तथा उसके इस आनन्दमय स्वभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृत्ति हुई। एस0के0डे महोदय ने चैतन्य सम्प्रदाय की कृष्ण लीला को इसी आध्यात्मिक परिवेश का प्रतिफल माना है। उनके अनुसार कृष्ण की तीन स्थिति है-

---

1. वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
   ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दय्यते।। श्रीमद्भागवत, 1.2.11
2. तैत्तिरीय उपनिषद, 2/7

1. स्वयं रूप, 2. तदेकात्म रूप, 3. आवेश रूप

स्वयं रूप की स्थिति में वे विष्णु लोक में रहते हैं। उनका तदेकात्म स्वरूप लीला की स्थिति में प्रगट होता है। यह स्वरूप विश्व के भरण-पोषण एवं नियन्त्रण में सहायक होता है, साथ ही यह अनेक आकृतियों के माध्यम से विश्व में प्रकट होता है। कृष्ण, राम आदि अवतार इसी रूप में है। इसके दो भेद हैं- विलास तथा स्वांश। स्वांश की स्थिति में वे स्वतः अपने अंशो में ही सीमित रहते हैं किन्तु विलास की स्थिति में उनकी श्रृंगार लीलाएं होती हैं। लीला को परिभाषित करते हुए वल्लभाचार्य ने बताया है कि-

"लीलानां विलासेच्छा कार्यव्यतिरेकेणकृतिमात्रतया कृत्वा वर्हि कार्य जायते जनितमभिकार्यम् नाभिप्रेतम् नापि कर्तरि प्रयासं जनयति किन्तु अन्तःकरणे पूर्णमानन्द तदुल्लसति कार्यजननं सदृशीक्रिया काचिदुत्पद्यते। लीला तु लीलया।"

ब्रह्म की विलासेच्छा का नाम लीला है। कार्य व्यतिरेक अर्थात् कार्य के परिणाम से रहित यह एक कृतिमात्र है। इस कृत्य (लीला) से उत्पन्न किए गए कार्य में कर्त्ता का कोई अभिप्राय नही होता। लीला के सन्दर्भ में अन्तःकरण में पूर्णानन्द जनित कोई आनन्दमयी दशा अर्थात् उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही लीला है। लीला का लीलाजनित आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नही होता। सृष्टि एवम् प्रलय ही भगवान की लीला है।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, लीला, डा0 ब्रजेश्वर वर्मा

इस प्रकार लीला के स्वभाव से स्पष्ट है कि लीला के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नही है, न तो उसमें कर्ता का प्रत्यक्ष उद्देश्य साधित होता है न विषय का अवान्तर से। यह लीला भगवान की नित्य लीला का विलास है।

लीला के सन्दर्भ में एक और शब्द प्रयुक्त होता है वह है, ब्रह्म का आत्म विहार। ब्रह्म के आत्मस्फोट स्वरूप अवतरण और आत्मविहार भक्तों पर अनुग्रह के लिये होता है और आत्म विहार उसके आनन्द धर्म से सम्बन्धित है। इसे लीला का वाह्य रूप कहा गया है और यह लीला वास्तविकी है लोक लीला व्यावहारिकी। उसका आत्मविहार उसके आनन्द धर्म का आवेश है और इसी आवेश से प्रेरित होकर वह अपने यश, सौन्दर्य एवम् ऐश्वर्य इन तीनों को अभिव्यक्त करता है। उसका आत्मविहार उसके आनन्दमय स्वरूप का परामर्श है। समस्त मानवीय भावनाएं चाहे आनन्दमूलक हों या विक्षोभमूलक सभी की सभी इसी परामर्श से प्रकाशित होकर आनन्द एवम् मुक्तदायिनी हैं। यशमयी लीला असुरवध एवम् राक्षसों के विनाश से सम्बद्ध है। सौन्दर्य का सम्बन्ध विशुद्ध लीला भाव से है और ऐश्वर्य लीला के अन्तर्गत इनकी लीलाओं एवम् चेष्टाओं में चमत्कारिता का भाव सन्दर्भित है और सर्वथा नही कभी-कभी उत्पन्न होती है लेकिन सभी कुछ उनके आत्मविहार के अन्तर्गत है।

लीला का कोई प्रयोजन नही है। यह कार्य कारण सम्बन्ध से प्रभावित भी नही है। यह आभाषिक क्रिया मात्र है और निर्विवाद रूप से यह कोई क्रिया भी नही है- यह एक सर्वोच्च चेतन

सत्ता का आत्म स्फोट है और उसके सम्पर्क में आकर सम्पूर्ण चेतन सत्ता स्वयं स्फुटित हो उठती है स्फुटित होना उसका और सबका धर्म है, यह स्वयं आत्मोद्रेक है, यह चेतन सत्ता का परचेतन सत्ता के सम्पर्क में आ जाने पर आत्मविमर्श है और इस प्रकार इसका कोई न हेतु है और न कोई प्रयोजन और इसी क्रम में ब्रह्म के आनन्दमय स्वभाव की अभिव्यक्ति है।

ख- लीला के तत्त्व :-

(1) अवतार :-

लोकार्थ एवम् परमार्थ के अनुभव द्वन्द्वों को आध्यात्मिक सन्दर्भ देने के लिए सर्वप्रथम अवतरण की परिकल्पना की गई। सगुण भक्ति का 'अवतरण' सन्दर्भ ब्रह्म के गुणत्व का प्रकाश है। गुणत्व का प्रकाश बिना इस अवतरण के सम्भव नही है। जहां भी 'गुणत्व' का प्रकाश है 'रूप' तथा विग्रह उसके अनिवार्य लक्षण हैं, क्योंकि बिना विग्रह के सामान्य से विशिष्टत्व का बोध नही हो सकता। यही अवतरण आविर्भाव है। पुराणों में इस अवतरण को 'प्राकट्य' तथा आविर्भाव भी कहा गया है। रामानुजाचार्य ने बताया है- "अवतरणभवतारः" उस परम दिव्य शक्ति का अवतरण ही अवतार है और यह 'अवतार की धारणा' भारतीय वाङ्मय में नितान्त प्राचीन है। प्रारम्भ में अवतरण का सम्बन्ध प्रजापति से था। प्रजापति ने अनेक बार अवतरित होकर पृथ्वी को अपहृत होने से बचाया। यह सन्दर्भ सतपथ ब्राह्मण का है। यहां वाराह रूप से अवतरित प्रजापति ने पृथ्वी (प्रजा) का उद्धार किया- पृथ्वी चुराई गई वस्तु के समान अदृश्य थी।

वाराह रूप प्रजापति ने उसका उद्धार किया। हरिवंश पुराण में वाराह अवतार को विराट यज्ञ व्यवस्था से जोड़ा गया है। इसी प्रकार 'मत्स्य' एवं 'कर्म' अवतारों की चर्चा की गई है। इसका भी सम्बन्ध प्रजापति से था यही नहीं यहां वामनावतार की चर्चा की गई है। असुरों से देवों के लिए पृथ्वी प्राप्त करने के लिए यज्ञ रूप वामन ने अपने शरीर का विस्तार किया, और यहाँ विष्णु का सन्दर्भ यज्ञ के कारण जुड़ गया 'वामनो हि विष्णुरसः'। विष्णु का अर्थ व्याप्त होने वाला है, क्योंकि विष्णु यज्ञ के प्रतीक हैं। इनके सम्बन्ध में यही कथाएं तैत्तिरीय संहिता तथा 'जैमिनीय ब्राह्मण' में भी मिलती है। परशुराम तथा कृष्ण परवर्ती अवतार थे। इस अवतरण के साथ मूल सन्दर्भ लीला का जुड़ा हुआ है। कारण स्पष्ट है– लोक भाव के माध्यम से आध्यात्मिक बोध की चर्चा परवर्ती भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता है। योगदर्शन के निग्रह के प्रतिकूल नव वैराग्यवाद की अपनी निजी धारणा है। पतंजलि के योगदर्शन के अन्तर्गत इन्द्रिय निग्रह और आत्मसाधना ईसा पूर्व पांचवी शती से लेकर लगभग 10वीं शती के भारतीय मानस को बुरी तरह प्रभावित किए रही। बौद्ध, जैन, सांख्य, प्रारम्भिक मीमांसा दर्शन पर इस इन्द्रिय निग्रह की छाप है। भक्ति आन्दोलन मूलतः इस इन्द्रिय निग्रह एवं आत्म साधना की ठीक प्रतिक्रिया भाव से उपजा है। प्रेम, दया, करुणा, वात्सल्य, कृपा, दयालुता आदि मानवीय भावना जगत के मूल्यों को आधार बनाकर इन्द्रिय निग्रह के ठीक प्रतिकूल उस अवतरित सत्ता के प्रति सर्वात्म समर्पण इस चिन्तन का आधार रहा है। इस चिन्तन के समक्ष सबसे बड़ी कठिनाई आध्यात्मिक स्तर पर उसके

प्रमाणीकरण की रही है। यह प्रमाणीकरण अवतरण तथा उससे सम्बद्ध अवतरित के रूप, गुण, क्रिया, व्यवहार, स्वभाव तथा सौन्दर्य से जोड़ा गया। अवतरित होने पर लोक जीवन की अपेक्षाओं के अनुकूल उसके आचरण में आध्यात्मिक सन्दर्भो का समावेश इस चिन्तन की सबसे बड़ी समस्या थी और इसी समस्या के हल के लिए इस काव्यशास्त्रीय लीला शब्द का सगुण प्रेममूलक भक्ति के अन्तर्गत व्यापक तथा विस्तारपूर्वक प्रयोग किया गया।

पारम्परित काव्यशास्त्रीय लीला शब्द का निहितार्थ असत्यता में सत्यता का आरोप है। अर्थात् भावावेश के कारण या आनन्दभाव में अपने आराध्य के वेष रूप एवं चेष्टाओं का हू-वहू अनुकरण और उस अनुकरण द्वारा आवेशित हो उठना या परस्पर परिहास पूर्वक आनन्द विनोद इसका लक्ष्य रहा है। प्रिय नही, किन्तु वेषादि द्वारा प्रिय की कल्पना इस काव्यशास्त्रीय लीला का योजना आधार है। यही आधार भक्ति के क्षेत्र में स्वीकार किया गया। यहां ब्रह्म नही है, ब्रह्म का अवतरण है और अवतरित रूप अपने रूप, गुण, व्यवहार, क्रिया, चेष्टा, स्वभाव आदि के द्वारा जो कुछ भी व्यक्त कर रहा है, वह उसी दिव्य अवतरित स्वरूप की व्यंजना से जुड़ा हुआ है। लोक में लोकोत्तर कल्पना ही अवतरण है और इस अवतरित का समग्र आचरण ही लीला है। यह अवतरण स्वच्छतया विधि हेतुओं से प्रेरित है, यह अवतरित अनअवतरित के उस धर्म विशेष को व्यंजित करता है जिनका उल्लेख आस्तिक दर्शनों में मिलता है। कंस के कारागार में

श्रीकृष्ण जब अनअवतरित होते हैं तो अनअवतरित ब्रह्म के रूप में देवकी कहती हैं–

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योर्तिनिर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्म दीपः।।

और यह अनअवतरित रूप मनुष्य रूप में लीला के निमित्त आकर उसे ज्ञान तथा रहस्य दोनों के क्रोड में लपेट लेता है। देवकी को सांत्वना देते हुए अवतरित श्रीकृष्ण कहते हैं–

एतद् वा दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणायमे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते।।
युवा मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृतम्।
चिन्तयन्तो कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गति पराम्।।

"मरे द्वारा तुम्हें यह स्वरूप इसलिए दिखाया ज़ा रहा है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारों का स्मरण हो जाए, यदि मैं ऐसा नही करता तो केवल मनुष्य शरीर से मेरी पहचान नहीं हो पाएगी। दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव, साथ ही साथ, ब्रह्म भाव निरन्तर रखना, इस प्रकार वात्सल्य स्नेह तथा ब्रह्मभाव के चिन्तन द्वारा तुम दोनों परमगति को प्राप्त कर लोगे।"

ऐसा कहकर शंख, चक्र, पद्म एवं गदाधारी विष्णु ने पिता तथा माता देवकी के समक्ष शिशु रूप धारण कर लिया। इस सन्दर्भ में अवतरण की कई व्यंजनाएँ निकलती है–

1. अवतरण के पूर्व का ब्रह्म रूप
2. अवतरण के बाद का अवतरित रूप
3. अवतरित रूप में गुण, रूप, क्रिया, स्वभाव द्वारा उस अवतरित स्वरूप की व्यंजना एवं पहचान।
4. भक्त को इस अवतरित स्वरूप की पहचान
5. लोकभाव तथा ब्रह्म को एक दूसरे से मिलाकर देखना।

अवतरण के ये पाँचों सन्दर्भ 'लीलाभाव' के साथ अनन्यतः जुड़े हैं। इन सन्दर्भों से भागवदीय लीला को जोडकर भक्त आचार्यों तथा कवियों ने इस शब्द के काव्यशास्त्रीय अर्थों का विस्तार किया है।

यही नही, इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि अवतरण तो मुख्यतः हेतु है और लीला उस हेतु से सम्बद्ध परिणाम। अवतरण के दो हेतुओं की चर्चा की गई है- प्रथम वह जो सोद्देश्य है और निश्चित कारणों से जुड़ी है। गो, द्विज, भूमि की रक्षा, असुरों तथा अधर्मों का विनाश, समाज में शुभ मूल्यों की स्थापना के लिए अशुभ मूल्यों के विनाश–ये सम्पूर्ण अवतार हेतु निश्चित कारणों से जुड़े हैं और इन कारणों के साथ या उससे भिन्न ब्रह्म के अवतरित रूप एवं उनके विग्रहों की चेष्टाओं जो जन रंजन के निमित्त है, आनन्द सृजन ही जिसका मूल लक्ष्य है, और अपने सम्पर्क तथा आवेश से भक्तों के हृदयों में सत् चित् से भिन्न आनन्द का उन्मूलन जिनका हेतु है- वह लीला धर्मिता है।

इस प्रकार, लीला मनुष्य भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्य की सी लीला की और अपने सौन्दर्य, माधुर्य, वाणी तथा कर्म से गौएं, ग्वालबाल और गोपियों को आनन्दित किया और स्वयं भी उनके अलौकिक प्रेमरस का आस्वादन करके आनन्दित हुए।

इस प्रकार अवतरण एक हेतु है अैर उस अवतरित के कर्म, उसकी चेष्टाएँ, उसके गुणों की अभिव्यक्ति, वाणी विलास सभी कुछ लीला है। इस लीला का मुख्य हेतु आनन्द है और वह आनन्द का अधिष्ठान ब्रह्म अपने अधीनों को प्रेमरस का आस्वादन कराकर स्वयं आनन्दित होता है। उसका आनन्दित हो उठना कर्म के परिणाम का अवान्तर फल है, वह प्रत्यक्ष निष्पत्ति नही है- प्रत्यक्षतः निष्पत्ति तो पात्रों को है, सम्पर्क में आने वाले भक्तों की भी।

(i) आत्म विहार :-

लीला के सन्दर्भ में एक और शब्द प्रयुक्त होता है- वह है, ब्रह्म का आत्म विहार। भागवतपुराण में लीला के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है-

"अपने आत्म स्वरूप बछड़ों को अपने आत्म स्वरूप ग्वाल वालों के द्वारा घेरकर अपने ही साथ अनेक प्रकार के खेल खेलते हुए उन्होंने ब्रज में प्रवेश किया 'आत्मविहार' शब्द यहां विचारणीय है। 'लीला' प्रभु का 'आत्मविहार' है। प्रभु के आत्मविहार का क्या अर्थ है? भागवत में इस आत्मविहार के हेतु की ओर इंगित करके एक स्थल पर बताया गया है-

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशी क्रीड़ा या श्रुत्वा तत्परोभवेत्।।

इस प्रकार, ब्रह्म के आत्म स्फोट स्वरूप अवतरण और आत्मविहार भक्तों पर अनुग्रह के लिए होता है और आत्मविहार उसके आनन्द धर्म से सम्बन्धित है। इसे लीला का वाह्य रूप कहा गया है और यह लीला वास्तविकी है लोक लीला व्यावहारिकी। उसका आत्मविहार उसके आनन्द धर्म का आवेश है और इसी आवेश से प्रेरित होकर वह अपने यश, सौन्दर्य एवम् ऐश्वर्य इन तीनों को अभिव्यक्ति करता है। उसका आत्मविहार उसके आनन्दमय स्वरूप का परामर्श है। समस्त मानवीय भावनाएं चाहे आनन्दमूलक हो या विक्षोभमूलक सभी की सभी इसी परामर्श से प्रकाशित होकर आनन्द एवम् मुक्तदायिनी है। यशमयी लीला असुरवध एवम् राक्षसों के विनाश से सम्बद्ध है। सौन्दर्य का सम्बन्ध विशुद्ध लीला भाव से है और 'ऐश्वर्य लीला' के अन्तर्गत इनकी लीलाओं एवं चेष्टाओं में चमत्कारिता का भाव सन्दर्भित है और यह सर्वथा नही, कभी-कभी उत्पन्न होती है। लेकिन सभी कुछ उनके आत्म विहार के अन्तर्गत है।

(2) विलास की इच्छा :-

ब्रह्म की विलासेच्छा का नाम लीला है। कार्य व्यतिरेक अर्थात् कार्य के परिणाम से रहित यह एक कृतिमात्र है। इस कृत्य (लीला) से उत्पन्न किए गए कार्य में कर्ता का कोई अभिप्राय नही होता। लीला के सन्दर्भ में अन्तःकरण में पूर्णानन्दजनित कोई आनन्दमयी दशा अर्थात् उल्लास से कार्योत्पत्ति को सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है, यही लीला है। लीला का लीलाजनित आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नही होता।

सामान्यतया यह अवतरण पूर्ण या अवतरण के बाद दोनों स्थितियों में घटित है। इस अवतरण पर कोई दबाव नही है। शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत शक्ति से मीलित तथा आवेशित यह शिव का आत्म विमर्श है। यह उनका प्राकट्य है। शिव को विमर्श एवम् परामर्श दोनों शक्तियो से परिपूर्ण कहा गया है, अर्थात् वे अद्भुत शक्तियों के अभिव्यक्तकर्ता तथा अपने इस स्वरूप के ज्ञाता एवम् नियामक भी हैं। प्रारम्भिक काल में वैष्णव दर्शन के अन्तर्गत विष्णु का विमर्श रूप ही स्वीकृत था, लीला के सन्दर्भ में बाद में उनका परामर्श स्वरूप स्वीकृत हुआ और इस प्रकार ब्रह्म अपने विमर्श तथा परामर्श दोनों रूपों में अवतरित होता है इस अवतरित होने के पीछे कारण वह स्वयं है- देवताओं एवम् कृषियों का दैन्य, पृथ्वी की पीड़ा, असुरो एवम् राक्षसों के अनाचरण सभी-के-सभी सामान्य हेतु हैं और वह स्वेच्छा से ही आवेशित होता है- उसका अभिव्यक्त या प्राकट्य ही अवतरण है। उसका यह प्राकट्य नैसर्गिक एवम् साध्य साधन रहित है। दुष्टों का विनाश, भक्तों की रक्षा तथा उनको आनन्द प्रदान करने जैसी क्रियाएँ अवतारधर्मिता का ही नैसर्गिक परिणाम हैं। यह अकारण नही है अवतार के जिन हेतुओं को गिनाया गया है, वे तथा उनके साथ अनेक ऐसे हेतु हैं- जिनकी चर्चा शास्त्रों में नही है, वे भी अवतार धर्मिता से स्वतः निर्धारित होते रहते हैं।

वल्लाभाचार्य के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप इस सन्दर्भ में इस प्रकार है-

अवतरित ब्रह्म

आनन्द स्वरूप परब्रह्म की (पूर्ण पुरूषोत्तम रस)

अक्षर ब्रह्म अर्थात् गणितानन्द (सीमित आनन्द बालरूप)

अन्तर्यामी स्वरूप (गोलोक में नित्यलीला में निमग्न स्वरूप)

यही नही, अवतरण के सन्दर्भ में उनके चार अवतरित स्वरूप दिखाई पड़ते हैं–

1. गुणावतार– दत्तात्रेय, व्यास आदि
2. अंशावतार– वामन, वाराह, मत्स्यादि
3. कलावतार– सीता सहित राम या राधा सहित कृष्ण
4. पूर्णावतार– इसके दो भेद है–
    (क) मर्यादावतार (राम)
    (ख) आनन्दावतार (कृष्ण)

मर्यादावतार का कार्य :–

शान्ति की स्थापना, असुरो का वध, धर्म की मर्यादा की व्यवस्था आदि।

आनन्दावतार का कार्य :–

नित्य अन्तर्यामी स्वरूप के द्वारा गो लोक की समग्र लीला तथा उसके भावों को पृथ्वी पर विमर्शित करता है और यथावसर एवम् यथेच्छया उसे अपने में पुनः अन्तर्निहित भी करता है। 'विद्वान्मण्डनम्' में आचार्य विट्ठलदास इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

'तेनापि मध्यावसानेषु शुद्धब्रह्म स्वोपादानत्वात्–स्वावता रसमये क्रीडार्थ साक्षाद् योग्यास्त एवं भवन्तीति तानप्यवतार यतीति

पुनर्निगम योग्यत्वम् इद्मेव मुक्तानुपसृज्य व्यापदेशाति सूत्रेणेक्तम्–मुक्ता अपि लीला विग्रहं कृत्वा भजन्ति इति'।

मुक्ति काल में भक्तों का भगवान में लय हो जाता है और वे उससे अभिन्न हो जाते हैं। अवतार के समय भगवान अपनी इच्छा से अपने इस अंश को अवतीर्ण करता है– जो मुक्त होते हुए भी लीला विग्रह के अन्तर्गत लीला में समाविष्ट होकर उनका सेवन करते हैं या उनमें रमें रहते हैं।

एक अन्य स्थल पर प्रभु की विलासेच्छा को स्पष्ट करते हुए आचार्य विट्ठल पुनः कहते है–

सृष्टि के समस्त तत्वों को अपने में गौड़ी भूत बनाकर भगवान केवल अपने विलक्षण प्रकार के रसानुयायी अनुभव के निमित्त जो जैसा आचरण करेगा, उसे वैसा ही फल प्रदान करेंगें। वह ऐसा विकल्प स्वेच्छा से संकल्पित करके लीला रचना करते हैं।

इन कथनों से स्पष्ट है कि ब्रह्म किसी कारण से अवतरित नहीं होता। जिन कारणों की अवतार हेतुओं के रूप में चर्चा की गई है, वे निमित्त कारण मात्र हैं। अपने भक्तों में उन समस्त धर्मो का समावेश करा देना ही लीला है। ताकि भक्त जन–

(1) अपनी अन्तः प्रज्ञा में स्थित अपनी परम अणुता को जागृत करके उसका अनुग्रह प्राप्त कर सके।

(2) अनुग्रह प्राप्त करके उसकी दास्य भक्ति में विलीनीकरण कर सके।

(3) उसके इस सर्वोच्च अनुग्रह एवम् दास्य भक्ति में विलीनीकरण द्वारा उससे जुड़कर मधुरभाव रूप आनन्द में निमग्न हो सकें।

(4) उसके यश तथा उसकी लीला का गान करके न केवल उसे अपितु उसके भक्तगणों को रिझाएँ।

विश्वलीला प्रभु की प्रत्यक्ष लीला है। श्री वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका (भागवत की तृतीय स्कन्ध) में लीला की व्याख्या दी है 'लीला विलास की इच्छा का नाम है, अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नही किया जाता। उत्पन्न किए गए कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नही रहता, न तो कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है, लीला का अभिव्यक्ति अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द के उदय को सूचित करती है। आचार्य वल्लभ ने 'अणुभाष्य' में बताया है कि भगवान की लीला का लीला को छोड़कर अन्य कोई प्रयोजन नही है। प्रत्यक्ष या परोक्ष में जो कुछ भी सत्तावान है, वह सब ब्रह्म का ही प्रतिरूप है, अंश हैं। वह सब भगवान की लीला का एक भाग मात्र है। अतः जगत की प्रत्येक क्रीड़ा भगवान की लीला है।[1]

(3) कार्य कारण सम्बन्ध से रहित हैः-

लीला ब्रह्म की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का न तो कोई हेतु है और हेतु न होने के कारण हेतु

---

1. कृष्णभक्ति काव्य में सखी भाव, डा0 शरण बिहारी गोस्वामी, पृ0 89

प्रेरित न उसका कोई फल। लीला स्वयं में कार्य भी है, कारण भी और कारण-कारण विरहित भी। लीला ब्रह्म का स्वभाव है और जीव ब्रह्मांश होने के कारण उसी ब्रह्म स्वभाव से अनन्य रूप से जुड़ी है। यह ब्रह्म के आनन्दमयी धर्म की सहज अभिव्यक्ति है और अंशिरूप जीव ब्रह्म स्वभाव से अनन्यतया जुड़ा होने के कारण उससे स्वभावतः संसक्त है। लीला ब्रह्म एवम् जीव के स्वभाव का परात्पर धर्म है। श्री कृष्ण लीला को देखकर, सुनकर या उसके सम्पर्क में आकर वह मायावरण के जाल को तोड़कर स्व-स्वभाव रूप लीला से सहज ही जुड़ जाता है। भागवत् पुराण में एक स्थल पर कहा गया है-

प्राणबुद्धिमनस्वात्म दारापत्यधनादयः।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः।।

अर्थात् 'प्राण, बुद्धि, मन, शरीर, स्वजन, स्त्री, पुरुष और धन आदि संसार की सभी वस्तुएँ जिसके लिए और जिसकी सन्निधि से प्रिय लगती हैं, वह सब कृष्ण प्रियता से जुड़कर एक मात्र प्रिय हो उठती हैं। उस आत्मा से, परमात्मा से, मुझ श्री कृष्ण से बढ़कर और कौन प्यारा हो सकता है।' मूलतः सभी आकांक्षा सम्बन्ध की जागृति के पश्चात् जीव का जीवत्त्वबोध ईश्वर से जीव को सीधे जोड़ देता है और फिर ब्रह्म और जीव दोनों लीला के द्वारा समान रूप से आनन्दित होते हैं। उनमें कार्य कारण का सम्बन्ध नही रह जाता है। भागवत् पुराण में कहा गया है-

एवं लीलानरवपुः नृलोकमनुशीलयन।
रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक् कृतैः।।

इस प्रकार लीला रूप मनुष्य शरीरधारी ब्रह्म ने मनुष्य लोक को अपना अनुशीलन कराते हुए गाय, गोप एवं गोप बन्धुओं स्वरूप सर्ववाणी एवं स्वकर्मो में रमकर (आनन्दित) होकर उन सबको स्वरूप, स्ववाणी एवं स्वकर्ममय आबद्ध करके रमाया (आनन्दित किया)।

लीला जीव के आनन्द का कारण नही है। जीव का सर्वभाव होने के कारण ब्रह्म के सम्पर्क में आने पर अपने सहज नैसर्गिक स्वभाव रूप में स्वयं घटित होता है– सम्पर्क में आना हेतु नही है– स्वयं स्वरूप की जागृति है– उसी प्रकार जैसे पुष्प कलियों का खिल जाना, पंखुड़ियों का पूर्ण विकसित हो जाना, गंध का स्वतः फैल जाना, वातावरण को स्वतः गन्धमय बना देना, स्वयं प्रेरित स्वयं अभिव्यक्त एवं कार्य करण हेतु से रहित है, गंधमय हो जाना यह नैसर्गिक प्रतिफल है– पुष्प का कोई सहैतुक कार्य नही है, उसी प्रकार लीला के द्वारा आनन्दमय वातावरण की सृष्टि और उसके सम्पर्क में आकर सम्पूर्ण जीवों का अपने आनन्दमय धर्म में विलयन हो जाना अहेतुक नही है। इस प्रकार का आनन्दतिरेक स्व–स्वभाव धर्मिता का परिणाम है। लीला हृदय की पूर्णानन्दमयी जीव की नैसर्गिक दशा की अभिव्यक्ति है।

(4) लीला केवल लीला के लिए :–

लीला में कोई विशिष्ट प्रयोजन उद्देश्य बनकर निहित नही रहता। लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है।

'न हि लीलायांकिन्चित प्रयोजनमस्ति।

लीलया एव प्रयोजनत्वात्।[1]

यह लीला भगवान के स्वभाव के अन्तर्गत है। श्वेताश्वर उपनिषद में 'स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च' कहकर प्रभु की लीला को स्वाभाविक, अतएव शाश्वत कहा गया है। अतः जो वस्तु स्वभावगत होती है, उसका कोई प्रयोजन नही होता। यह कार्य कारण सम्बन्ध से प्रभावित नही है। यह आभासिक क्रिया मात्र है और निर्विवाद रूप से यह कोई क्रिया भी नही है– यह एक सर्वोच्च चेतन सत्ता का आत्म–स्फोट है और उसके सम्पर्क में आकर सम्पूर्ण चेतन सत्ता स्वयं स्फटित हो उठती है– स्फुटित होना उसका और सबका धर्म है, यह स्वयं का आत्मोद्रेक है, यह चेतन सत्ता का परम चेतन सत्ता के सम्पर्क में आ जाने पर आत्म विमर्श है और इस प्रकार इसका कोई न हेतु है और न कोई प्रयोजन और इसी क्रम में ब्रह्म के आनन्दमय स्वभाव की अभिव्यक्ति है। कृष्ण के अवतरण के साथ युगावतार अंाावतार, कलावतार और उससे भी अपने सच्चिदानन्दमय देह से स्वयं ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होना सामान्य अवतरण का भी अतिक्रमण है। इस रूप में नित्य वृन्दावन, नित्य रास, नित्य कृष्ण, नित्य गोपी, नित्य बिहार, नित्य रस की इसकी अन्तिम अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार एकाकए पुष्प का पुष्पित हो जाना किसी उद्देश्य के निमित्त नही है वह उसकी वासना की अन्तिम पराकाष्ठा और वह केवल अपनी वासना की अन्तिम पराकाष्ठा को अभिव्यक्त करने के

1. ब्रह्मसूत्र, अध्याय 2, पाद 1, सूत्र 33 के अणुभाष्य पृ0 601

लिए काल पाकर, एक वय पाकर, एक रूप पाकर स्वयं अपने आप में खिल उठता है– पुष्प का खिलना केवल खिलाने के लिए है। यही स्थिति लीला की भी है। लीला तो केवल लीला के लिए है।

लीला से सम्बन्धित भक्तों का जहां तक प्रश्न है, वे लीला के द्रष्टा, पाठक तथा उसके आनन्द से अपने को निरंतर विह्वल लीला गान करते हैं। भागवत पुराण में इसका अवान्तर उद्देश्य भक्तों को आनन्दित करना है। उसका श्रवण भक्तों के लिए भक्ति प्रेरक तथा आनन्द का स्रोत है।

ईश्वर मनुष्य रूप में जीवों पर अनुग्रह तो करता ही है, साथ ही ऐसी लीला भी करता है– जिसे सुनकर चिन्मय तत्परायण होकर भक्त आनन्दित होता है। जो इस चिन्मय रास विलास का श्रद्धा के साथ बार–बार श्रवण तथा वर्णन करता है, उसे भगवान के चरणों में पराभक्ति की प्राप्ति होती है और बहुत ही शीघ्र अपने हृदय के रोग–विकारों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार लीला श्रीकृष्ण की दृष्टि से उनकी दिव्यचेतना की स्वयं स्फूर्त अभिव्यक्त है, गोपियों की दृष्टि से उनकी जीवजड़ता के पाश से मुक्ति एवम् दिव्य चिन्मयता की तदाकारिता है और भक्त की दृष्टि से श्रवण तथा मनन के द्वारा ईश्वर की सत्यता को लोकासक्ति की ममता में अवतरित कर लेना लीला है। लीला श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष्झ भक्ति भी है, परोक्ष भक्ति भी।

(5) लीला में क्रिया तत्व का आभास मात्र होता है :–

लीला के अन्तर्गत दिखाई पड़ने वाला क्रिया तत्त्व क्रिया न होकर ईश्वर के चिन्मय संकल्प की चिन्मयी अभिव्यक्ति है।

उसे उसी रूप में अभिव्यक्त होना है औरवह उसी रूप में अभिव्यक्त होगा– विकार रहित, परिणाम रहित, कारण तथा उद्देश्य रहित। रास लीला के सन्दर्भ में भागवत् पुराण में एक स्थल पर कहा गया है–

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
यो ऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्।
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देह मास्थितः।
भजते तादृशी क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परोभवत्।।

गोपियों के, उनके पतियों और सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में जो प्रधान भूतत्त्व के रूप में निवास करते हैं, वे अपना दिव्य चिन्मय विग्रह प्रकट करके लीला कर रहे हैं, वे भक्तों पर अनुग्रह के निमित्त अपने को मनुष्य रूप में प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएं करते हैं ताकि उसे सुनकर जीव भागवत हो जाए। इस प्रकार लीला क्रिया न होकर दिव्य चिन्मय श्री विग्रह का स्फोट है– जो उसकी प्रेरणा से तथा संकल्प वद्ध होने पर स्वयं घटित हो उठता है। उसमें क्रिया के घटित होने जैसा आभास लगता है किन्तु वह क्रिया के घटित होने जैसा आभास लगता है किन्तु वह क्रिया न होकर सर्वोपरि चेतन सत्ता का स्वयं प्रकाश है और भागवतकार एक दृष्टान्त के माध्यम से इसे स्पष्ट करता हुआ कहता है–

"रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरीभिः यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब विभ्रमः"।

जैसे अज्ञानी शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ उसे सत्य समझकर खेलता है, उसी प्रकार रमापति भगवान श्री कृष्ण के साथ ब्रज सुन्दरियों ने रमण किया। यह लीला प्रकारान्तर

से जीव के आत्मानन्द का आत्म विमर्श है। यह कोई क्रिया नही- अपने ही स्वरूप में आत्मसत्ता का विलयन है। इस लीला प्रकरण का आध्यात्मिक अर्थ बताते हुए कहा गया है- श्री कृष्ण रूप परमात्मा की आत्माकार वृत्ति ही राधा है और शेष गोपिकाएँ आत्माभिमुख अन्य वृत्तियाँ हैं और इस प्रकार धारा प्रवाह रूप से आत्मरमण ही रास लीला है।

(6) लीला और आनन्द :-

भगवान सत् चित् आनन्द स्वरूप है। लीला भगवान के आनन्द स्वरूप का प्रकाश है। आनन्द बिना रस के सम्भव नही होता। तैत्तिरीय उपनिषद में वर्णित हुआ है कि ब्रह्म रस स्वरूप है अर्थात् आनन्द स्वरूप है "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लव्ध्वाऽऽनन्दी भवति।"[1] तथा उसके इस आनन्दमय स्वभाव से ही समस्त सृष्टि की प्रवृत्ति हुई। तैत्तिरीयोप निषद की ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्म के आविर्भाव की चर्चा करते हुए कहा गया है कि इससे पहले केवल असत् था। उससे सत् उत्पन्न हुआ, उसने स्वयं को अभिव्यक्त किया, इसलिए उसे सुकृत कहा जाता है। यह जो सृकृत है वही रस है। इससे यह बात प्रकट होती है कि वह रस विशुद्ध परात्पर तत्त्व है। दूसरे यह कि यह रस मूर्तिमान रस है, व्यक्तित्त्व है। 'सः' तो किसी पुरूष के लिए प्रयुक्त होता है। यह रस पुरूष, रस मूर्ति, रस प्राप्त करता है। कहाँ से प्राप्त करता है? इसका उत्तर श्रुति ही यह देती है कि वह स्वयं द्विधा विभक्त करता है।

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद, 2/7

परस्पर के सम्बन्ध से क्रीड़ा से ही रस प्राप्त होता है। इस परस्पर के सम्बन्ध का नाम प्रेम है। प्रेम का परस्पर जो आस्वाद है, वही रस है।[1] अपनी अप्राकृतता के कारण यह प्रेम अपने प्रत्येक स्वरूप में रस कहा जा सकता है; यह रस अपने आप में सर्वदा सर्वथा पूर्ण है। कितना भी इसमें से निकाल लिया जाय, यह पूर्ण ही रहेगा। पूर्णत्व की परिभाषा यही है। श्रुति कहती है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।[2]

जिस प्रकार घटने की अवस्था में भी पूर्ण ही रहता है, उसी प्रकार निरन्तर प्राप्त करते रहने पर भी वह पूर्ण रहता है; अर्थात् पूर्णता की पूर्ण अवधि होने पर भी पूर्णता पूर्ण होने के लिए आकुल रहती है। इसीलिए यह परात्पर पूर्णत्त्व रस भी समय होने के लिए रस को प्राप्त करता रहता है। यही पूर्ण काम की कामना है, आनन्द का आनन्द है; रस की सरसता है। इसीलिए "रसौ वै सः" के आगे कहा यगा है "रसं ह्येवायं लव्ध्वाऽऽनन्दी भवति"। वह रस, रस को प्राप्त करके आनन्दित होता रहता है। सिद्ध है कि रस का स्वभाव लीलामय है। "तस्माल्लीला रसमयी रसो लीलामयः स्मृतः" इस वाक्य में रस की प्रकृति लीलामय ही बतायी गयी है। रस कभी लीला के बिना नही रह सकता और लीला बिना रस के

---

1. कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभासव, डा० शरण बिहारी गोस्वामी पृ० 219
2. वृहदारण्यकोपनिषद, 2,5,19

नही।[1] अतएवं सृष्टि रचना का हेतु अभाव नही है किन्तु स्वभाव है जो नित्य आप्तकाम है, सदातृप्त है, सततृपूर्ण है, उसको किसी प्रकार का अभाव नही रह सकता। अतएव किसी अभाव की पूर्ति के लिए सृष्टि का उन्मेष हुआ, यह नही कह सकते– "आप्तकामस्य का स्पृहा ?" समस्त लीला– व्यापार ही अलौकिक लीला– कैवल्य रूप में भाव का खेल है। जो सब भावों से अतीत है, वही फिर सर्वभावमय है अर्थात् महाभावमय है। कौन खेलता है ? यह खेल देखता है कौन ? क्यों ऐसा खेल खेलता है ? ये सब प्रश्न चिन्ताशील मनुष्य के मन को अवश्य आलोड़ित करते हैं। "वस्तुतः एक अद्वय अखंडतत्त्व ही विद्यमान है। वह स्वतंत्र एवं परमानन्दस्वरूप है। वही खेल करता है, क्योंकि आनन्द का स्वभाव ही खेलना है, क्रीड़ा करना है। इसीलिए वह आप्तकाम और स्पृहाहीन होने पर भी स्वभाववश होकर लीला अथवा क्रीड़ामग्न रहता है। वह स्वयं एक से अनेक बन जाता है, अनन्त रूप धारण करता है पुरूष होता है, प्रकृति होता है, सब कुछ होता है। एक दृष्टि से जो असंग पुरूष है, दूसरी दृष्टि से वही प्रेममय होकर सबके साथ विभिन्न सम्बन्धो से सम्बद्ध होता है।

लीला और आनन्दवाद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिसने हरिलीला को पहचान लिया, वह आनन्द की भूमिका में पहुंच गया और जो आनन्द धाम में पहुंचा, उसने हरिलीला के दर्शन कर लिए।[2]

---

1. कृष्ण भक्ति काव्य में सखीभाव, डा0 शरण बिहारी गोस्वामी पृ0 314,315
2. भारतीय साधाना और सूर साहित्य–मुंशीराम शर्मा, पृ0 121

वल्लभाचार्य ने इस लीला में भाग लेने को मोक्ष से भी बढ़कर माना है।[1]

(ग) लीला के स्वरूप का विवेचना :-

सच्चिदानन्द पुरूषोत्तम के तीन स्वरूप हैं- ब्रह्म, परमात्मा और भगवान। वह ज्ञानियों के ब्रह्म, योगियों परमात्मा और भक्तों के भगवान हैं। किन्तु, ज्ञानी और योगी जहां उनके अंश विशेष को जानते हैं वहां भक्त भगवान के सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव और रसास्वादन करते हैं। पुराणों की कृष्ण लीला का यही रहस्य है। यहां आस्वादन लक्ष्य सर्वोपरि है। यहां सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेम का अरिरेक है। कृष्ण यहां रंजन के देवता है। इसलिए इन्हें लीला पुरूषोत्तम कहा गया है। इस पुरूषोत्तम की लीला में शक्ति और शिव का अंश न हो, ऐसी बात नही है। किन्तु, उक्त दोनों का सौन्दर्य में अध्यवसान हो गया है। यही कारण है कि पौराणिक कृष्ण लीला और अवतार का प्रधान हेतु धर्म संस्थापन न होकर भक्तानुगृह हेतु लीला-विस्तारण है। 'लघु भागवतामृत' के अनुसार-

स्वलीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुप्निघृक्षया।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुहत्तमः।।

यहां कृष्ण धर्म-संस्थापक न होकर 'भक्तानुगृहकातर' हैं। इसी अवतार प्रयोजन को लक्ष्यकर पौराणिक कृष्णलीला में

---

1. आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र 4-4-14 के भाष्य में पृष्ठ 1413-1414 पर लीला के कैवल्य और मुक्ति (मुक्ति से भी बढ़कर) बताते हुए लिखते हैं- "लीला विशिष्टमेव शुद्धं परब्रह्म, न कदाचित तदहितं इत्यर्थः। तेनं च (लीलयाः) नित्यत्वम्। अथवा लीला एक कैवल्यम्, जीवानां मुक्तिरूपम् तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति।"

गोपीकृष्ण और राधा–कृष्ण की श्रृंगार लीलाओं की नानाविधि प्रचुरता हो गयी है। किन्तु इन समस्त श्रृंगार लीलाओं के अन्तरम् में जो ईश्वरीय तटस्थता है, रति में जो विरति है, उसके महत्त्व को लक्ष्यान्तर नहीं किया जाा सकता। यह कृष्ण लीला की अन्तरंग विलक्षणता का परिचायक है। इस श्रृंगारातिशय्य को काम–वासना की कसौटी पर कसना ठीक नही है। वैसे ही इस चिन्मुख प्रेम को लौकिक श्रृंगार मानना अनुचित है। वैष्णवाचार्यो ने इसीलिए इसे माधुर्य रस की उज्जवल संज्ञा प्रदान की। पुराणों में वर्णित कृष्ण लीला का भी यही रस है, यही रहस्य है। पौराणिक कृष्ण मदन नहीं, मदन मोहन हैं।

हरिवंश पुराण में मुख्यतः गोपाल कृष्ण का दुष्टदमन रूप प्रधान है। कृष्ण लीलाएं इस प्रकार हैं– शकटवध, पूतनावध, यमलार्जुन भंग, कालियदमन, धेनुक वध, प्रलम्ब वध, गोवर्धन धारण, हल्लीस क्रीड़ा, वृषभासुर वध, केशिवध आदि। हरिवंश के 'विष्णुपर्व' के 20वे अध्याय में संक्षेप में गोपियों की रासलीला वर्णित है। इस पुराण में कृष्ण का वंश वृक्ष दिया गया है और इनमें वे सारे विवरण इतनी स्पष्टता के साथ आए हैं जितनी स्पष्टता कि महाभारत में भी नही थी। इसमें श्रीकृष्ण की वास्तविक प्रकृति, जन्मगत परिस्थितियों, शैशव से लेकर यौवन काल की चटुल वृत्तियों आदिको एकसूत्र में पिरोकर समुपस्थित किया गया है। यहां कृष्ण सामान्यतया एक वीर सामन्त हैं। यद्यपि श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया है जिसका तत्कालिक प्रयोजन एक प्रजापीड़क शासक का दमन करना है, किन्तु उसकी लीलाओं में किसी प्रकार की अलौकिकता की व्यंजना नही की

गई है। उसके समस्त क्रिया-कलाप ऐन्द्रिक हैं। गीता में भगवान के अवतार का एक विशेष कारण बतलाया गया है। परमात्मा अज या अजन्मा है। इसी कारण उसे नित्य माना जाता है। नित्य होने के कारण यह अव्यय है। परमात्मा में ज्ञान शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों है। क्रियाशक्ति के द्वारा ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न करता है और ज्ञान शक्ति के द्वारा इसका नियन्त्रण करता है। इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति और नियन्त्रण दोनों ईश्वर पर ही निर्भर है। ईश्वर स्वयं अजन्मा है परन्तु सृष्टि प्रक्रिया में कमी होने के कारण वह कभी-कभी अपने आप एक नया रूप धारण कर लेता है यही ईश्वर का अवतार है। स्वयं भगवान ने गीता में बतलाया है कि ''मै जन्महीन हूं, फिर भी माया के कारण जन्म लेता हूं। मैं अपनी अलौकिक शक्ति (माया) में अधिष्ठित होकर अपने सामर्थ्य से ही अपना जन्म ग्रहण करता हूँ।[1] इससे स्पष्ट है कि माया ईश्वर की शक्ति है और ईश्वर साकार रूप धारण करते हैं। इस ईश्वर के रूप धारण करने या अवतार ग्रहण करने का कारण क्या है? भगवान ने गीता में स्वयं बतलाया है कि जब कभी भी धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तो मैं अवतार ग्रहण करता हूँ।[2] तात्पर्य यह है कि धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युदय ही अवतार का कारण है।

---

1. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्।
   प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।। गीता 4/6
2. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
   अभयुत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। गीता 4/7

कृष्ण विष्णु के अंशावतार है। देवाङ्गनाएँ गोपियों के रूप में विष्णु के विहारार्थ अवतीर्ण हुई हैं। यहां गोपियों में कृष्ण की प्रियतमा 'कृतपूण्या मदालसा' गोपी का उल्लेख मिलता है। इसने पूर्व जन्म में भगवान विष्णु की 'अभ्यर्चना' की थी। इसलिए इस जन्म में उसे कृष्ण का विशेष प्रेम प्राप्त हुआ। कदाचित इसी 'अभ्यर्चना' शब्द के आपदर्श पर भागवत में 'अनयाऽराधितो' शब्द से गोपी विशेष के सौभाग्य की सराहना की गयी है।[1] श्रीमद् भागवत कृष्ण लीला का सर्वाधिक सुव्यस्थित कोश है महाभारत से लेकर पुराणों तक कृष्ण का जितना भी विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप से भागवत में मिल जाता है।[2] वैष्णव धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय इससे प्रभावित हैं। विशेषतः वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय में यह प्रस्थानत्रयी (उपनिषद भगवद्गीता–ब्रह्मसूत्र) के समान उपजीव्य गन्थ के रूप में मान्य रहा।[3] वल्लभाचार्य ने भागवत पुराण को महर्षि व्यास की 'समाधि भाषा' कहकर समादृत किया।[4]

स्थूलतः भागवतवर्णित कृष्ण लीला को तीन वर्गो में रखा जा सकता है **(i)** बाल लीला **(ii)** किशोर लीला **(iii)** यौवन लीला। यद्यपि कृष्ण ब्रज में 11 वर्ष की अवस्था तक रहे तथापि अपनी अतिमानवीय प्रकृति अथच दिव्यशक्ति के माध्यम से अवस्था

---

1. हिन्दी काव्य में कृष्ण–चरित का भावात्मक स्वरूप विकास तपेश्वरनाथ पृष्ठ 86
2. हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव– डा0 शशि अग्रवाल पृ0 20
3. भागवत सम्प्रदाय पं0 बलदेव उपाध्याय पृ0 147–148
4. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, पृ0 49

सुलभ दुर्बलता और सुकुमारता को अतिक्रान्त कर अपने अद्‌भुत पराक्रम और रमणशीलता का परिचय दिया। अतः इस छोटी सी उम्र में, ब्रज में, उनके द्वारा किये गए सारे पराक्रमपूर्णकृत्य तथा यौवनपूर्ण लीलाकेलि विस्मयोद्रेचक हैं। इस दृष्टि से भी इन लीलाओं के तीन वर्ग किए जा सकते हैः- (1) वात्सल्य (2) वीर (3) श्रृंगार। वात्सल्य लीला के अन्तर्गत ललित-मधुर बालकृष्ण और उनकी सारी चपल चेष्टाएं आती हैं। जिसके आनन्द की आश्रय माता यशोदा तथा नन्द और उनके अन्य सहयोगी गोप गोपियां हैं। वीर रस के अन्तर्गत अवतारी कृष्ण और उनके द्वारा वध किए जाने वाले असुरों के प्रसंग अन्तर्मुक्त हैं। यद्यपि नितान्त बाल रूप में कृष्ण के द्वारा इन भयंकर राक्षसों के विनाश के पीछे उत्साह की अपेक्षा विस्मय भावना के उन्द्रेक की अधिक अनुकूल स्थिति प्रतीत होती है। इसलिए इसे अद्‌भुत रस के अन्तर्गत भी परिगणित किया जा सकता है, किन्तु जिस मायाशक्ति के संचार से ये सारी लीलाएं आयोजित हुई, उनके मूल में ही विस्मय की भावना बद्धमूल है। यह विस्मय सम्पूर्ण कृष्णलीला का आधार है और तज्जन्य आनन्द और हेतु भी। इसलिए प्रकृत रस दृष्टि से असुरवध के वृत्तान्त को वीररस के अन्तर्गत ही परिगणित किया गया है। स्थान की दृष्टि इसके दो वर्ग हैं। (1) गोकुल (2) वृन्दावन। गोकुल से वृन्दावन विस्थापन की चर्चा प्रायः सभी पुराणों में हुई हैं-

(1) बाल लीला इसके अन्तर्गत आने वाली प्रमुख लीलाएं इस प्रकार हैं- पूतनावध, शकट भंग, तृणावर्तवध नामकरण, (मृत्तिका-भक्षण, मुख में विश्वरूप दर्शन, उखल बन्धन), यमलार्जुन

गोकुल में कृष्ण की उक्त पांच प्रकार की लीलाएं ही हुई हैं। इन सभी लीलाओं में उनकी अद्‌भुत शक्ति का प्रदर्शन हुआ है। किन्तु यह उनकी माया का ही प्रभाव है कि भोले-भाले ब्रजवासी उनके ब्रह्मत्व की याद अक्षुण्ण नही रख पाते। इसी कारण वे मनुष्य रूप में उनकी इन लीलाओं के प्रति विस्मय विमुग्ध होकर भी धर्म विमूढ़ नहीं होते और कृष्ण को अपने ही बीच का एक विलक्षण संस्कार सम्पन्न बालक समझकर प्राणपण से प्यार और दुलार किया करते थे। यही कारण है कि गोकुल में आये दिन होने वाली दुर्घटनाओं से सशंकित होकर गोपेशनन्द ने वृन्दावन वास का संकल्प किया और सम्पूर्ण गोकुल एक दिन उठकर यमुना तटवर्ती वृन्दावन की श्यामल वन-भूमि में आ बसा। श्रीमद्‌भागवद की अन्य पश्चाद्‌वर्ती लीलाएं इसी वृन्दावन लीला के अन्तर्गत आती हैं। उनकी वृन्दावन लीलाएं इस प्रकार हैं- वत्सासुर वध, वकासुर वध, अधासुर वध, ब्रह्म द्वारा गोवत्स हरण, ब्रह्म मोह भंग, गोवत्स प्रत्यावर्त, धेनुका सुर वध, कालियदमन, प्रलम्बासुर वध। प्रलम्ब गोप रूपी राक्षस है जिसका वध कृष्ण की मंत्रणा से बलराम करते हैं। उक्त अवसरों पर कृष्ण ब्रजाधिपति नन्द गोप के पुत्र और ग्वालवालों के सच्चे नायक के रूप में मान्य हैं। उनके साहस पूर्ण वीर चरित गोपों को संकट कालीन स्थितियों से मुक्त करने की सामर्थ्य, उनका पूर्ण आत्म विश्यवास उन्हें सब मिलाकर एक साधारण व्यक्त्वि प्रदान करते हैं। यदा कदा उनका विष्णु तेज भी प्रकट हुआ है किन्तु तत्काल उन्होंने अपनी माया का संचार कर गोपों की माहात्म्य बुद्धि

पर एक आवरण डाल दिया है। परिणामतः ईश्वर के रूप में होकर भी वह सदा ब्रजवासियों के प्रेम भाजन ही बने रहे।

(2) किशोर लीला– यही वह सीमा रेखा है जहां पुराण कृष्ण लीला की रमणीय भूमि पदार्पण करता है। किशोर कृष्ण की कमनीय छवि, प्रकृति की प्रफुल्लित पृष्ठभूमि तथा प्रेमोमंग और उल्लास की प्रदायिनी मोहन की वंशी ध्वनि के साथ गोपी लीला का धूम–धाम से समारम्भ हो जाता है यही कृष्ण की किशोर लीला है। चीरहरण इसका चूड़ान्त है। किशोर लीला के अन्तर्गत पांच प्रसंग हैं– शरद वर्णन, वेणुगीत, चीरहरण, यज्ञपत्नी अनुग्रह, गोवर्धन धारण। इसमें अंतिम को छोड़कर शेष सभी प्रसंग श्री कृष्ण की श्रृंगार लीला से सम्बद्ध हैं।

(3) यौवन लीला– यौवन लीला में गोपी कृष्ण की रासलीला का सुमधुर वितान हुआ है। कृष्ण लीला में रास को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भागवतकार ने रास लीला का तन्मयतापूर्वक वर्णन किया है और उसकी आध्यात्मिकता का भी स्थान–स्थान पर उल्लेख किया है। भगवान कृष्ण ने चीरहरण के समय ही गोपियों को रासलीला का संकेत दे दिया था अब उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रासक्रीड़ा करने का संकल्प किया। संकल्प के जागृत होते ही चन्द्रदेव ने प्राची दिशा में मुखमंडल पर अपने शीतल करो से लाल–रोली केशर मल दी। श्रीकृष्ण का वंशीवादन प्रारम्भ हुआ। गोपियों का मन पहले से ही श्यामसुन्दर के वशीभूत था अब तों उनकी सारी वृत्तियां भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा छिन गई। उनकी विचित्र गति हो गई। वे धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी समस्त कार्यो को छोड़कर श्री कृष्ण के पास पहुंची, जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के पास पहुंची उन्हें वे पातिव्रत धर्म की याद दिलाते हैं तथा लौट जाने के उपदेश देते हैं। गोपियाँ इस विरुद्ध धर्मी नायक की वक्रोक्ति से रो पड़ती हैं। अन्ततोगत्त्वा गोपियों के द्वारा अपने सर्वस्व समर्पण कर दिए जाने तथा उन्हें अपना सर्वस्व मान लने पर वह प्रसन्न होते हैं और देखते ही देखते यमुना तट की वह क्षुब्ध बेला, नृत्य गीत और प्रणय कूजन से मुखरित हो उठ्ती हैं। आनन्द और प्रेम के समुद्र में ज्वार उठ जाता है।

रासमग्न गोपियों को जब यह अभिमान होने लगा कि भगवान के साथ रमण करने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ है, तो श्रीकृष्ण उनका गर्व भंग करने के लिए अन्तर्धान हो गए। गोपिकाएं विरहावेश में जो करूण गीत गाती है, वह भी कल्पना एवम् भाव गरिमा की दृष्टि से अनुपम है। इस करूण रूदन से अभिमान का भी मान गलित एवम् क्षरित हो गया, पश्चात्ताप की पावक ने गर्व की पापमयता को क्षार-क्षार कर दिया। आत्मा फिर अपने स्वरूप में अवस्थित हो गई और परमात्मा ने उसे अपना दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया। श्रीकृष्ण प्रकट हो गए और गोपियों को शांत्वना देते हुए कहने लगे। मैं तो तुम्हारे पास ही था। अब महारास फिर प्रारम्भ हुआ। जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछायी के साथ क्रीड़ा करता है वैसे ही रमा-रमण ब्रज सुन्दरियों के साथ बिहार करने लगे।[1]

---

1. श्रीमद भागवत 10.33.17

भगवान का संस्पर्श पाते ही गोपिकाएं प्रेम और आनन्द से विह्वल हो गई। वे अपने शारीरिक संसार को संभालने में असमर्थ हो गयी। भागवत महारास का श्रृंगारमय वर्णन करने के उपरान्त कहता है कि "प्रभु सत्यकाम हैं। यह लीला, प्रेमभाव उनके अन्दर अवरुद्ध है, उनके वश में है।[1]

पद्मपुराण एक प्रमुख वैष्णव पुराण है तथा इसकी विशेषता राधाभाव के प्रथम व्यवस्थित उन्मीलन में है। गोलोक ही गोकुल है, वैकुण्ठ ही 'द्वारिका' है और नित्य वृन्दावन प्राकृत वृन्दावन के रूप में सुशोभित है। इसमें सहस्रपत्र कमल-रूपी लीला भूमि है। यह गृह लोक कृष्ण का प्रियतम धाम है। यहीं स्वर्ग के सिंहासन पर श्रीकृष्ण विराजमान हैं। उनकी प्रिया राधा आधा प्रकृति है। यही कृष्ण वल्लभा हैं। ललिता आदि संखियां उन्हीं की अंशभूता हैं। राधा कृष्ण प्रकृति की अंशभूता अष्टसखियों से सेवित हैं। इनके वाम भाग में देवकन्यायें तथा दक्षिण भाग में श्रुति कन्याये सहस्त्रों की संख्या में विलासोत्सुक हैं।

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को परंतत्व बताते हुए कहा गया कि उन्हीं को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान इन शब्दों से जाना जाता है।[2] श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य समन्वित रूप वर्णित है। भगवान के अवतार का ऐश्वर्यपूर्ण कारण 'विनाशाय च दुष्कृताम्' भागवत में प्रधानरूप से 'अनुग्रहाय भूतानां'

---

1. श्रीमद भागवत 10.33.26
2. श्रीमद् भागवत, 1.2.11

रह गया है। भागवतकार ने कहा है कि भागवान की लीला-कथा-रस निषेवण के अतिरिक्त इस संसार को पार करनेका दूसरा उपाय नही है। कृष्ण ही स्वयं भगवान हैं, अवतारी हैं, अन्य अवतार उन्हीं की अंश कलाएं उनके परतर और कोई भी नही है।[1] इस प्रकार महाभारत, गीता और भागवत तथा परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने एक स्वर में श्रीकृष्ण के परत्व की घोषणा की है।

श्रीकृष्ण नायक-शिरोमणि तथा स्वयं भगवान हैं और इस नायक शिरोमणि कृष्ण में साहित्य शास्त्रोक्त नायकों के समस्त गुण नित्य रूप में विराजमान है।[2] ये-स्वरूप और अन्य-रूप से दो प्रकार के माने गये है- स्वरूप के भी दो प्रकार हैं- (1) प्रकट (2) आवृत्त। प्रकट तो प्रकट ही है किन्तु जब कष्ण लीला विलास के निमित्त स्त्रीवेश धारण करते हैं तब वह उनका आवृत्त स्वरूप कहलाता है। अन्य रूप दूसरों द्वारा देखी जाने वाली कृष्ण की मनोरम कान्ति और तेजस्वी स्वरूप को कहते हैं।

गुण- कृष्ण में 64 गुणों का विस्तार से परिगणन है। इसमें 50 मुख्य, 5 गिरीश, 5 लक्ष्मीश और 4 गोविन्द के नामों से सम्बद्ध हैं।

---

1. एते चांश कलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान स्वयम्
   श्रीमद् भागवत 1/3/28
2. नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।
   यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः। भ0र0सि0 विभा लहरी-17
   यह श्लोक अत्यन्त सारगर्भित है रीति कवियों ने इससे 'नायकानां शिरोरत्वं लिया और भक्त कवियों ने इससे कृष्णस्तु भगवान स्वयम्'।

आयु– नायक कृष्ण की आयु के अनेक भेद होने पर भी किशोर कृष्ण ही नित्य नाना विलासों से युक्त सब प्रकार की भक्ति (दास्य, संख्य, वात्सलय, मधुर) के आश्रय हैं।[1] नायक श्रीकृष्ण माधुर्य शिरोमणि भी है, उनका प्रत्येक अंग उनकी प्रत्येक चेष्टा मण्धुरातिमण्धुर है, वे अखिल माधुर्य के पति है[2] किन्तु उनकी चार प्रकार की माधुरी अप्रतिम हैः ऐश्वर्य माधुरी, क्रीड़ा माधुरी, वेणुमाधुरी और रूप माधुरी। ऐश्वर्य माधुरी में भगवान के ईश्वर रस की प्रधानता होती है। क्रीड़ा माधुरी अनेक प्रकार की होती है, फिर भी उन सबमें गोपी लीला श्रेष्ठ है। भगवान की वेणुमाधुरी ने चराचर को मुग्ध कर लिया है।

रूप माधुर्य–श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य के सम्बन्ध में श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध में कहा गया है–

का स्त्रयंगते कलपदामृत मूञ्छितेनसंमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपंयद् गोद्विजद्रुभमृगाः पुलकान्यविभ्रन्।[3]

अर्थात् हे कृष्ण! तुम्हारे सुन्दर वचनामृत, वंशी तथा गीत की ध्वनि से मोहित होकर तीनों लोंकों में ऐसी कौन सी स्त्री है जो आर्य चरित से विचलित न हो जाय। जबकि त्रैलोक्य के सौन्दर्यभूत तुम्हारे इस रूप को देखरकर गौ, पक्षी, वृक्ष और मृग आदि भी रोमांचित हो जाते है, तब स्त्रियों की कथा ही व्यर्थ है।

गुण–प्रकाश–इन गुणों के प्रकाशन की दृष्टि से कृष्ण के तीन रूप हो जाते है–

---

1. परंबह्य तु कृष्णोहि सच्चिदाननछकं वृहत्। सिद्धान्त मुक्तावली। श्री वल्लभ।
2. मधुराष्टक, श्री वल्लभाचार्य
3. श्रीमद्‌भागवत 10/29/40

(1) पूर्णतम (2) पूर्णतर (3) पूर्ण।

सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाला (कृष्ण का स्वरूप) पूर्णतम कहा जाता है। सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित न करने वाला (कृष्ण का स्वरूप) पूर्णतर और थोड़े से गुणों का प्रदर्शक पूर्ण कहलाता है। कृष्ण की पूर्णतमता गोकुल के भीतर प्रकट हुई थी और पूर्णता तथा पूर्णतरता क्रमशः द्वारका तथा मथुरा आदि में प्रकट हुई।

धीर लालित्य- राम धीरोदत्त और कृष्ण धीर ललित नायक हैं। कृष्ण में विशेषतः धीरललितत्व स्पष्ट है। इस विषय में नाट्यशास्त्री प्रायः कामदेव का कृष्ण के सदृश नामोल्लेख करते है।[1]

दार्शनिक और पौराण्कि दृष्टि से गोपियों को हम कुछ भी माने और किसी तत्व का अवतार कहें, वैष्णवों की दृष्टि में तो वे कृष्ण की नित्य कान्ताएं हैं। तत्त्व उनके लिए साकार रूप में है। गोपियां श्रीकृष्ण की जन्म जन्म की प्रेयसी है।[2] वे अहैतकी प्रेम की मूर्ति हैं। तत्वतः वे प्रेमस्वरूपिणी हैं, वैष्णवोपासकों ने गोपियों को इसी रूप में देखा है। राधा भी गोप कन्या है।[3] राधा की प्रधानता होने से गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ निजी अधिकार वैसा न रह गया, क्योंकि राधा कृष्ण तो एक ही तत्त्व हो गये।[4] गोपियों को राधा कृष्ण के इस तात्त्विक रूप में स्थान है, परन्तु श्री राधा कृष्ण की आत्मा हैं, तो

---

1. म0र0सि0 - विभावलहरी, 85
2. अनेक जन्मासिद्धानाम् गोपीनां पतिदेव वा।
   नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रिलोक्यानन्दवर्ध्दनः। गौतमीय तन्त्र, 2/24 हस्त।
3. वृषभानुसुता गोपी मूल प्रकृतिरीश्वरी - राधिकोपनिषद्।
4. यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः। ब्रह्म संहिता, यु0त0स0, पृ0 171

गोपियां आत्मांश का विस्तार है।[1] गोपियों को श्रीराधा की कायव्यूहरूपा कहा गया है।[2]

माधुर्य लीला में सखियों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सखियां ही प्रेमलीला का विस्तार करती हैं। सखियों के बिना लीलारस की पुष्टि नही होती। राधा और कृष्ण की कुंजसेवा ही सखियों का साध्य है। सखियां कृष्ण के साथ स्वयं लीला नही करना चाहती, वे तो राधा और कृष्ण की ही लीला के लिए उपयुक्त अवसर प्रस्तुत किया करती हैं, उसी लीला रस से उनकी तुष्टि एवं पुष्टि होती है।

राधाभाव के विकास में काव्य, पुराण और शास्त्र तीनों का योगदान है। सूर के पूर्व इन तीन धाराओं से मिलकर राधा कृष्ण युगल स्वरूप की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। दर्शन, पुराण, तंत्र और साहित्य सभी ओर से समृद्ध होकर श्री राधा का रूप ब्रज भक्ति सम्प्रदायों में अपनी सम्पूर्ण सीमाओं में साकार होकर प्रकाशित हुआ है। यहां तत्ववाद अलग-अलग न रहकर लीला में मिल गये हैं। उनको मानवीय धरातल प्राप्त हो गया है। लीला में तत्व बताने की आवश्यकता नही होती, लीला लीला है, आनन्द की क्रीड़ा है। लीला की दृष्टि से राधा ह्लादिनी रूप महत्वपूर्ण है। वल्लभ सम्प्रदाय में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति माना गया है। ह्लादिनीत्व में एक ओर प्रेम सिद्धान्त कार्य करता है, दूसरी ओर उसका सम्बन्ध शक्ति की मान्यता

---

1. आत्मा रामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्त्रि राधिका।
   तस्या एवांशविस्तारा: सर्व्वा: श्रीकृष्णनायिका:। ब्राह्माण्ड पुराण, राधास्तव।
2. एतस्या एवं कायव्यूह रूपा गोप्यो महिष्य:। श्रीश्चेति। गुम्मतत्व समीक्षा, पृ0 172

से भी है। भगवान की ह्लादिनी शक्ति ही उनकी निज लीला का आधार है उसी के आस्वाद से वे नित्य रसमय बने रहते हैं। ह्लादिनी शक्ति विशुद्ध प्रेम स्वरूपा है। उन्हीं के साथ नित्य रमण लीला अक्षुण्ण और अनवरत है। परब्रह्म श्रीकृष्ण को लीला रस प्रदान करने वाली इस ह्लादिनी शक्ति का ही दूसरा नाम राधा है।

चतुर्थ अध्याय

—— 0 ——

लीला और माया

लीला और माया :-

ब्रह्म को सत् चित् व आनन्द स्वरूप कहा गया है। वह स्वतन्त्र सर्वदोषरहित ऐश्वर्यादि षड्गुणोपेत पूर्ण गुण निग्रह एवं सच्चिदानन्दमय है। उसका प्राकृत शरीर एवं गुण न होने के कारण उसे निराकार तथा निर्गुण कहा गया है। इसी परमेश्वर को कई नामों से पुकारा जाता है- ब्रह्म, परमात्मन् भगवत्, पर वह किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय उसका विशुद्ध सार अरूप चिदात्मा (अरूपस्य चिदात्मनः) में निहित है।[1]

'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' 'पुरूष एवेदं सर्वम्' जैसे वेदवाक्य ब्रह्म की सत्ता का संकेत करते हैं। ब्रह्माण्ड की रचना के पहले पुरूष विद्यमान था। श्रुतियों में आया है, 'वह रमण करना चाहता था' (स रन्तुमैच्छत) उसे अकेले जाना अच्छा न लगा, इसलिए उसने दूसरे को रचा। (स एकाकी नारमत्। ततो द्वितीयमसृजत्)।

उसने अपनी इच्छाशक्ति से जगत् की सृष्टि की, इसी इच्छाशक्ति को वेदान्तियों ने माया की संज्ञा दी। ऋग्वेद में यत्र तत्र माया के बीज मिलते हैं, जिनके प्रयोग अविधा के रूप में हुए हैं, किन्तु वेदान्त में माया का जो स्वरूप ग्रहण किया गया है, उसका स्पष्ट रूप श्वेताश्वरोपनिषद में आया है।[2]

माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वभिदं जगत्।।

---

1. भागवत पुराण, प्रथम स्कन्ध, 3,30।
2. भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना डा0 नारायण प्रसाद बाजपेयी पृ0 41

अर्थात् माया प्रकृति को समझना चाहिये और मायापति महेश्वर को। वही मायापति समस्त जगत की सृष्टि करता है। उसी के अंगभूत कारण कार्य समुदाय से यह समस्त जगत व्याप्त हो रहा है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में माया का प्रयोग मिलता है। उसी अर्थ में वृहदारण्यक उपनिषद ने पहले पहल इसका प्रयोग किया। इसके पश्चात् परवर्ती श्वेताश्वरोपनिषद ने 'माया' शब्द का उस अर्थ में प्रयोग किया, जिस पर समस्त वेदान्त आधारित है। ज्ञाता और ज्ञेय, ध्येता और ध्येय का द्वैत ही माया है, नानात्त्व ही अविद्या है। वृहदारण्यकोपनिषद में यही बात कही गई है कि इन्द्र (परमेश्वर) माया से अनेक रूप धारण करता है।[1]

माया सत्त्व, रजस् और तमस् से निर्मित होती है अतः यह त्रिगुणात्मिका भी कही जाती है।

प्रकृति, अविद्या या माया मिश्रित तत्त्व है। इसको प्रकृति इस कारण कहते हैं क्योंकि यह विकारों को उत्पन्न करती है। अविद्या इस कारण कि वह सम्यक् ज्ञान (विद्या) की प्रतिबंधक है। नाना रूपों से युक्त जगत का निर्माण करने से वह माया महलाती है।

शंकराचार्य के अनुसार अपरिणामी ब्रह्म माया के कारण नाम रूपात्मक भिन्न प्रतीत होने वाले जगत में अवभासित होता है। शंकर माया का दूसरा नाम अविद्या बतलाते हैं। सृष्टि काल में जगत नाम रूपात्मक व्यक्त दशा में रहता है। किन्तु इसकी पूर्वावस्था अव्यक्त दशा में रहती है, वही माया है। सांख्य दर्शन में भी इस

---

1. भक्ति काव्य की दार्शनिक चेतना, डा0 नारायण प्रसाद बाजपेयी पृ0 41

पूर्वावस्था का वर्णन मिलता है, किन्तु वेदान्तियों की माया सांख्य से पृथक है। सांख्य दर्शन प्रकृति (माया) को पुरूष के समान एवं स्वतन्त्र मानता है परन्तु वेदान्ती माया को स्वतन्त्र न मानकर परमेश्वर के अधीन उसी की बीजशक्ति मानते हैं। शंकराचार्य के माया सिद्धान्त में सत् के प्रत्यक्षीकरण की तीन रीतियाँ हैं-

1. प्रतिभासिक (स्वप्न की वस्तुओं को देखने की अनुभूति या भ्रांन्त दर्शन) जैसे- रज्जु में सर्प की भावना।
2. व्यावहारिक (सांसारिक वस्तुओं को देखने की अनुभूति)
3. पारमार्थिक (अपने को अद्वैत रूप में देखने की अनुभूति) यह सत्ता ब्रह्म की ही है।

शंकराचार्य कहते है कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुएं स्वप्न-द्रष्टा के लिए सत् होती है। परन्तु जगने के बाद उसका सत्यापन नही होता। वे सत् प्रतीत होती है पर वास्तव में असत् होती है, इसलिये वे माया की निर्मित हैं। इसी प्रकार पारमार्थिक समझता है क्योंकि वह माया के प्रभाव में होता है। परन्तु जब उसे परम सत्य का ज्ञान होता है, जगत् की वस्तुएं असत् प्रतीत होने लगती हैं। तब जीव परम सत्य के साथ एक भाव हो जाता है- 'ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति'।[1]

माया दो प्रकार की होती है- विधा और अविधा। अविधा माया आत्मा-परमात्मा, जीव ब्रह्म में भेद कराती है। इससे जीव संसार जाल में फँस जाता है। विधा माया के प्रभाव से जीव

---

1. सूरदास की प्रतिभा- डा0 भगवती प्रसाद राय पृ0 143

अन्य सब जीवों को ब्रह्मवत् समझता है। श्रीकृष्ण की मुरली विधा माया की प्रतीक है। वह गोपियों को श्रीकृष्ण से मिलाती है। सूरदास के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है।[1] उसके माध्यम से वह जगत का आविर्भाव तिरोभाव करता है। किन्तु माया के इस दुस्तर प्रभाव को वैष्णव जनों ने जिस भावात्मक संस्पर्श से रसमय और लीलामय बना दिया है, वह विस्मय की वस्तु है। वैष्णवों ने मायावाद से सम्बन्धित शांकर मत को चुनौती देते हुए इसे परब्रह्म विष्णु के विलास का एक विचित्र उपकरण माना है। माया भ्रम मात्र न होकर 'विलास विभ्रम' मानी गयी, अर्थात् विलास के लिए ही लीलामय भगवान ने स्वेच्छा से अपनी सर्वव्यापी अखण्ड एक सत्ता में बहु के अस्तित्त्व को प्रतिभासित किया।[2] अतः माया सम्बन्धी बौद्धिक द्वन्द्व का सर्वोत्तम समाधान इसकी उक्त लीला स्वरूप परिणति ही है जिसके माध्यम से भगवान की माधुर्य भक्ति का अशेष प्रसार हुआ है।

अब प्रासंगिक प्रश्न यह है कि इस लीला का अर्थ क्या है? इसका प्रयोजन क्या है? हरि लीला का सामान्य अर्थ हरि की लीला अर्थात् प्रभु का खेल है। यह खेल ही सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ रचना है, परन्तु अपने व्यापक रूप में सृजन एवं ध्वंस दोनो ही उसके दो पार्श्व हैं, एक ही तत्त्व के वक्ष एवम् पृष्ठवत् दो रूप हैं। महाकाल शंकर जिस प्रकार शिव और रूद्र दो रूपों वाले हैं और लास्य एवं तांडव उनके नृत्य (लीला खेल) के दो भेद कहलाते है, उसी

---

1. सूर सागर पद संख्या 3-394
2. श्री राधा का क्रम विकास- डा0 शशिभूषण दास गुप्त पृ0 64

प्रकार सृष्टि में सृजन एवं ध्वंस की दोनों क्रियायें विद्यामान हैं। यह द्विविध खेल इस सृष्टि में प्रतिरक्षण हो रहा है। प्रकाश और अंधकार की भाँति यह युग्म एक होकर भी अपने दो रूप रखता है। जैसे एक बीज में पुलिंग और स्त्रीलिंग नाम के दो दल रहते हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि का मूल द्विदलात्मक है, द्विविध रूप वाला है।[1]

लीला में कोई विशिष्ट प्रयोजन उद्देश्य बनकर निहित नहीं रहता। लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है।[2] (न हि लीलायांकिन्चित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एवं प्रयोजनत्वात्)। यह लीला भगवान के स्वभाव के अन्तर्गत है। श्वेताश्वतर उपनिषद में 'स्वाभाविकी ज्ञानवल क्रिया च' कहकर प्रभु की लीला को स्वाभाविक, अतएव शाश्वत कहा गया है। अतः जो वस्तु स्वभावगत होती है, उसका कोई प्रयोजन नही होता। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में श्री सम्प्रदाय के अनुयायी लोकाचार्य ने तो लीला को ही एक मात्र प्रयोजन माना है।[3] आचार्य वल्लभ के अनुसार लीला नाम है विलास की इच्छा का किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को ही लीला कहते हैं।

भगवत् लीला में चमत्कार होता है इसलिये साधारण क्रीड़ा से ऊपर होती है। चमत्कार का सम्पादन भगवान अपनी माया शक्ति से करते हैं। इसलिए माया को भगवान की चमत्कार शक्ति कहा जाता है। भारतीय दर्शन में माया का प्रयोग भ्रम के सत्याभास

---

1. भारतीय साधना और सूर साहित्य–मुंशीराम शर्मा, पृ0 118
2. ब्रह्म सूत्र अध्याय 2, पाद 1, सूत्र 33 के अणुभाष्य पृ0 601
3. तत्वत्रय पृ0 89 'अस्य प्रयोजनम् केवल लीला'।

अर्थ में हुआ है। भारतीय मानस के विकास के साथ इस शब्द ने अर्थ परिवर्तन के अनेक रंग दिखाये हैं। ऋग्वेद में माया का प्रयोग अद्‌भुत शक्ति के अर्थ में हुआ है जो देव और असुरों दोनों के पास थी। स्कंद स्वामी, वेंकेटमाधव तथा सायण माया का अर्थ देवों के प्रसंग में कर्म या प्रज्ञा करते हैं तथा असुरों के सन्दर्भ में कपट या वंचना। देवों के अधिष्ठान स्वर्ग देश को माया शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। वरूण के साथ माया शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। वरूण की माया को कोई रोक नही सकता था। वे माया से आकाश में सूर्य, वायु और वर्षा का नियमन करते हैं।[1] मित्र वरूण की माया से समृद्धि प्राप्त होती है।[2] इन्द्र का सम्बन्ध भी माया से बताया गया है वे माया से वीरता का कार्य करते हैं, माया से उन्होंने असुरों का संहार किया।[3] इसलिये उन्हें मायी कहा गया है। मरूत को सुमाय[4] कहते हैं। देवता माया से यज्ञ में अपना भाग ग्रहण करते हैं। अग्निदेव अपनी माया से विश्व को पवित्र बनाते है।[5] वाक् के लिए मायिनी अभिधान का प्रयोग हुआ है।[6] अग्नि उत्पन्न करना माया या प्रज्ञा कर्म था, इसलिए अश्विनों को मायवित कहते थे। दो अरणियों से अग्नि उत्पन्न होती थी इसलिए उसकी मायिनी संज्ञा थी। पूषा माया के रक्षक थे। देवों की माया से रात्रि में अग्नि प्रधान होती थी और दिन में सूर्य[7]। सोम की माया से

---

1. ऋग्वेद 5,63,4
2. ऋग्वेद 1,151,9
3. ऋग्वेद 8,14,4
4. ऋग्वेद 1,88,1
5. ऋग्वेद 1,160,3
6. ऋग्वेद 4,48,1
7. ऋग्वेद 10.88.6

सभी देवता मायावी हो जाते थे, सोम के घूंट से उन्हें माया प्राप्त होती थी। पृथ्वी पर यज्ञ को मायिन कहा जाता था।[1] वृत्र, नमुचि, शुष्मा को भी दुर्मायु कहते थे।[2] वे देवों के विरूद्ध अपनी माया का प्रयोग करते थे। परन्तु देवों की माया प्रबल थी, मायावी इन्द्र के सामने असुर अपनी माया त्याग देते थे।[3] इसलिए दशमनों की माया काटने के लिए इन्द्र का आह्वान किया जाता था।[4] सोम पान करने के बाद वे असुरों की माया छिन्न–भिन्न कर देते थे। इन्द्र और विष्णु दोनों ने साथ–साथ वृष शिप्र की माया को युद्ध में परास्त किया। असुरों की माया के नाश के लिये इनका आह्वान किया जाता था। इच्छा रूप धारण करना ही माया का महत्त्वपूर्ण कृत्य था। माया के माध्यम् से असुर छद्म रूप धारण करते थे। इन्द्र को धोखा देने के लिये वृत्र ने हरिण रूप धारण किया था–मृगं मृगरूपमापन्न तं वृत्रम्।[5] ऋग्वेद के दशम मंडल के एक सूत्र में वागार्थ न जानने वाले को वंध्या गाय की तरह निष्फल कहा गया है क्योंकि बंध्या गाय माया की तरह श्रम मात्र है–

अधेन्वा चरति माययैष वाचं
शुश्रूवां अफलामपुष्याम्।[6]

ऐसी गाय केवल आभास है क्योंकि वह दूध नही

---

1. ऋग्वेद 9,73,4
2. ऋग्वेद 3.30.15
3. ऋग्वेद 3.38.7
4. ऋग्वेद 6.45.9
5. मुग्दल, ऋग्वेद 1.80.7
6. ऋग्वेद 10.71.5

देती है, दूध की इच्छा वाला व्यक्ति उससे वंचित होता है। इसी उपमा का सादृश्य आचार्य शंकर के सर्प रज्जु में प्राप्त होता है। वाणी उसके लिए भ्रम ही है जो उसके अर्थ को नही समझता है। सायण ने ऋग्वेद के मंत्र (10.177.1) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि माया त्रिगुणात्मिका होती है। सत्त्व, रज तम उसके तीन गुण है। जब उसके साथ अगुण ब्रह्म का साहचर्य होता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं। माया का तमस् या मोह रूपी उसकी यात्रा का परवर्ती चरण है। असरु स्वभानु[1] ने अन्धकार रूप में सूर्य के नीचे अपनी माया का विस्तार किया। इन्द्र ने अपनी शक्ति और अत्रि ने अपनी मंत्र शक्ति से असुर माया का निवारण किया है। उसमें छिपे सूर्य का अनावरण किया।

अथर्ववेद में इस शब्द ने नई धारणा का विकास किया। विराज असुरो के पास गई, उन्होंने उससे माया का दोहन किया। इससे व्यक्त होता है कि माया से माया उत्पन्न हुई। असुरों की माया से नाग चमत्कारी रूप धारण करते हैं। उवर और महीधर ने माया का अर्थ प्रज्ञा किया है क्योंकि उससे वस्तुज्ञान प्राप्त होता है-

मायां प्रज्ञां भीयते ज्ञायतेऽनया माया प्रज्ञा।[2]

शतपथ ब्राह्मण में माया को देवों की रचना कहा गया है। उन्होंने सुपर्णी और कद्रु नामक माया की सृष्टि की।[3] शतपथ

---

1. ऋग्वेद 5,40, 6-8
2. महीधर, यजुर्वेद, 13.44
3. त एते मायेऽअसृजन्त सुपर्णी च कद्रुं च। वागेव सुपर्णीयं कद्रुस्ताभ्यां समयं चक्रुः। शतपथ ब्राह्मण, 3, 6.22

में आगे कहा गया है कि असुर सीधे प्रजापति के पास पहुंचे। उन्हें उन्होंने तम और माया दिया।[1] माया असुरों का वेद है। संहिता और ब्राह्मणों में माया के जो सन्दर्भ मिलते हैं, उसमें इसका अर्थ देव पक्ष में कर्म, कला, प्रज्ञा दैवी शक्ति है तथा असुर पक्ष में जादू, प्रपंच, वंचना, कपट आदि है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में पहली बार कहा गया हैं कि परमेश्वर ने अपनी माया से विश्व की रचना की, वह मायी है और उसकी सृष्टि माया है।[2]

(क) राम भक्ति काव्य :-

सभी अद्वैतवादी दर्शनों ने माया का विवेचन किया है। शंकर अद्वैत वेदान्तियों ने माया के अस्तित्त्व को सत्य न स्वीकार करते हुए मिथ्या या भ्रम में डालने वाली कहा है किन्तु वैष्णव-भक्त दार्शनिको ने माया को ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानकर उसका सत्य अस्तित्त्व स्वीकार किया है। तुलसीदास भक्त थे, अतः उनको भक्त दार्शनिकों का ही माया विषयक विचार मान्य हुआ है। तुलसीदास के मतानुसार ब्रह्म राम की शक्ति का नाम 'माया' है। उनकी इस शक्ति-रूपा माया का दूसरा नाम सीता है।[3] तुलसी के राम-भक्ति दर्शन में 'सीता' और 'माया' शब्द समानार्थी है। जिस प्रकार राम के

---

1 शतपथ ब्राह्मण 2.4.25

2. माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत।। श्वे0उ0 4.10
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः
श्वे उ0 4.9

3. रामचरितमानस, अयो0 का0, 218/2

दो रूप हैं- निराकार और साकार, उसी प्रकार सीता के भी दो रूप हैं- अव्यक्त और व्यक्त। सीता जब अव्यक्त रूप में रहती हैं, तब उनका नाम माया है, किन्तु जब वही माया अपने व्यक्त साकार रूप में वाणी का विषय होती है, तब उसे सीता कहते हैं।[1] जिस प्रकार निर्गुण निराकार राम अवतार लेते हैं, उसी प्रकार उनके साथ उनकी माया भी अवतार लेती है।[2] भगवान विष्णु कृष्ण आदि अवतारों के साथ में उनकी शक्ति लक्ष्मी रूक्मिणी का भी अवतार होता है।

तुलसीदास ने 'माया' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थो में किया है- छल, कपट या धोखा, जादू या इन्द्रजाल, मैं-मेरा और 'तुम-तुम्हारा' का भेद-भाव, दुर्जेय दैवी या आसुरी शक्ति, भ्रान्तकारिणी रचना एवं उसकी मिथ्या प्रतीति, संसाराशक्ति या मोह, मोहकारिणी शक्ति, जीव को बांधने वाला पाश, ईश्वर की आदि शक्ति, ईश्वर की रहस्यमय अद्‌भुत, अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय शक्ति, विश्व को नचाने वाली ईश्वरीय शक्ति, ईश्वर की कारयित्री शक्ति, सत्य सा प्रतीत होने वाला यह समस्त जगत अविद्या और अविधाकारिणी जीव भ्रामक शक्ति आदि। अनिर्वचनीय माया का प्रभाव अपार है। सुर, असुर, नाग, नर, चल, अचर, काल धर्म और त्रिदेव तक इसके वशवर्ती हैं। यह समस्त जग को नचाने वाली है। चराचर जगत की रचना करने वाले विधाता को भी इसने अनेक बार नचाया है, परन्तु राम की दासी है। उनके

---

1. श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
   रामचरितमानस, अयो0 2/126
2. आदि शक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरित मोर यह माया।
   रामचरितमानस, बाल0 152/2

संकेत मात्र पर नचाने वाली नर्तकी है। सामान्यतः माया वह शक्ति है, जिससे विश्व की रचना होती है किन्तु इस माया का वास्तविक ज्ञान जीव के लिये अत्यन्त दुस्साध्य है। वैसे तो तुलसीदास ने माया का प्रयोग अनेक रूपों में किया है किन्तु मुख्य रूप से माया के दो रूप ही तुलसीदास को मान्य है-

(1) विद्यामाया

(2) अविद्या माया

विद्या माया राम की वास्तविक शक्ति है, जिसके द्वारा विश्व की रचना करते हैं अथवा जो उनकी प्रेरणा से विश्व की रचना करती है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुण माया के अधीन है। वह स्वयं शक्तिहीन है उसकी शक्ति वस्तुतः प्रभु राम की शक्ति है। संक्षेप में यह विद्या माया वास्तविक भगवान की शक्ति रूपा तथा जीवों की कल्याणकारिणी है।

दूसरी अविद्या माया है जिसके लिए तुलसीदास ने केवल 'माया' या 'अविद्या' शब्दों का ही व्यवहार किया है। इस माया के द्वारा मैं-मेरे तथा आत्मा को शरीरी समझना आदि मिथ्या विचारों का सृजन होता है। अविद्या माया सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य का बोध कराती है। यह मोहकारिणी आवरण-शक्ति है, जो धरती के ढाबर पानी की भाँति जीव को मलावृत किए हुए है। अविद्याा माया से आवृत्त मूढ़ जीव अपने स्वरूप और भगवद्-स्वरूप को भूलकर भव-बनधन में पड़ता है। अविद्या माया के द्वारा जीव ब्रह्म या भगवान से अलग किया जाता है और वह संसार के आकर्षण में फँसकर उसी

वास्तविक मान लेता है तथा उसके क्षणिक सुख को ही वास्तविक सुख मानकर सुखी या दुखी होता है। इस प्रकार अविद्या माया जीव को संसार की तरफ प्रवृत्ति करती है, किन्तु विद्या माया जीव को अपने वास्तविक स्वरूप, ब्रह्म के स्वरूप तथा जगत के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराकर उसे विश्व से निवृत्ति की ओर उन्मुख करती है।

तात्त्विक दृष्टि से माया का भेद या विभाजन नही किया जा सकता है। माया के दो प्रकार के कार्यो को समझाने के लिए ही तुलसीदास ने विभाजन स्वीकार किया है। उन्होंने विद्या माया को तो 'प्रभु प्रेरित' कहा और अविद्या माया को नही, इसका यह आशय नहीं है कि अविद्या माया स्वतन्त्र है। अविद्या माया के प्रेरक और नियंता भी तो राम ही हैं। इस अविद्या माया की दो शक्तियाँ– विक्षेप और आवरण बतलाई गयी है। विक्षेप शक्ति रजोगुण की कार्यशीला शक्ति है, जो सभी प्रवृत्तियों का कारण है और आवरण शक्ति तमोगुण की शक्ति है, जिसके कारण वस्तु कुछ की कुछ अवभासित होती है। किन्तु तुलसीदास अध्यात्म रामायणकार की भाँति विक्षेप शक्ति को विद्या माया और आवरण शक्ति को अविद्या माया मानते है।

सीता राम की परम शक्ति हैं। उनकी प्रिया हैं। शक्ति और शक्तिमान में भेद नही होता, अतः सीता राम से अभिन्न है। जिस प्रकार परछाई शरीर से, प्रभा का सूर्य से अथवा चन्द्रिका का चन्द्रमा से अलग होना सम्भव नही है, उसी प्रकार सीता राम से अलग नही हो सकती है। जिस प्रकार अर्थ औरवाणी तथा जल और

तरंग का भेद तात्त्विक नही है, उसी प्रकार राम और सीता का भेद वास्तविक नही है। राम की आदिशक्ति होने के कारण जगत मूल कही गयी है।[1] 'आदि शक्ति छविनिधि जग मूला'। वे विश्व का उद्‌भव, पालन और संहार करने वाली हैं। उनके भृकुटि विलास से ही विश्व निर्मित हो जाता है।

ब्राह्मणी, लक्ष्मी, भवानी उनके अंश मात्र से उत्पन्न है।

जासु अंश उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।

भृकुटि विलास जासु लग होई। राम वाम दिसि सीता सोई।।[2]

कहीं कहीं सीता की तुलना में भवानी आदि की हीनता का जो चित्रण हुआ है, वह काव्यात्मक अधिक है, दार्शनिक दृष्टि से कम। सीता लक्षमी की अवतार भी है और उनकी जननी तथा वंदिता भी।[3] वे पार्वती की जननी एवम् वंदनीया भी है और उनके समान तथा उनकी स्तुति करती हुई भी चित्रित की गई हैं। इस विचित्र विरोधाभास का समाधान यह है कि वे मूलतः परम विष्णु राम की शक्ति (जिन्हें लक्ष्मी भी कहा गया है) की अवतार हैं। माया के दो रूपों की भाँति ही सीता के भी दो रूप है– विद्या रूप और और अविद्या रूप। विद्या रूप सीता के कार्य दो प्रकार के हैं– प्रथम जगत की रचना तथा द्वितीय जीव का कल्याण। उनके ये सभी व्यापार जीव के कल्याण के लिए हैं। विश्व कल्याण के सभी कार्य राम की प्रेरणा

---

1. रामचरितमानस, बाल0का0, 148/2
2. रामचरितमानस, बाल0का0, 148/2
3. रामचरितमानस, बा0का0 148/2, 289, लंका का0 107 छंद

से उनकी माया ही द्वारा सम्पन्न होते हैं। माया की इस कल्याणकारी पक्ष पर बल देने के लिए ही तुलसी ने विश्वमूला माया, भवानी या सीता को जगत–जननी भी कहा है। इस प्रकार वे पुरूषाकार रूपा भी हैं। वे राम भक्ति की प्राप्ति में भक्त की अमोध सहायता करती हैं। अपने इसी धर्म के कारण ही वे भक्ति स्वरूपा मानी गई है। अविद्या रूप में वे दृष्टिमोहन शीला है। धनुष–यज्ञ में आए हुए मूढ़ राजा और रावण आदि राक्षस उनके अविद्या रूप से ही मोहग्रस्त हुए थे।

तात्पर्य यह है कि वे भक्तों के लिए विद्यारूपा हैं और अभक्तों के लिए अविद्या रूपा। आलोचकों को सन्देह है कि जब सीता और माया एक ही हैं तब माया सीता का हरण कैसा? माया सीता का अर्थ निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है एक तो यह कि रावण ने माया रूपी सीता का हरण किया। दूसरे यह कि वास्तविक न होते हुए भी रावण को वास्तविक प्रतीत होने वाली सीता का हरण हुआ। माया के सभी रूप सीता की माया में समाहित हैं। एक और शंका उपस्थित की जाती है कि जो सीता स्वयं माया है उनकी माया कैसी? इसका उत्तर यह है कि राम के सम्बन्ध से सीता उनकी शक्ति माया है, परन्तु जीव की व्यावहारिक दृष्टि सीता की भी अपनी दिव्य, अलौकिक शक्ति है। वही उनकी माया है। राम की शक्ति सीता की भाँति शिव की शक्ति भवानी भी माया है।

इस प्रकार तुलसीदास ने शांकर अद्वैत, वैष्णव आचार्यो एवं तत्कालीन समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों की समान बातों को

निस्संकोच ग्रहण किया तथा जहाँ दार्शनिक सम्प्रदायों में विरोध दिखाई पड़ा, वहाँ उन्होने समन्वय बुद्धि से काम लिया।

(ख) कृष्ण भक्ति काव्य :-

माया तथा अविद्यारूपिणी सभी सम्प्रदायों, में मान्य है किन्तु माया का विस्तृत विवेचन वल्लभाचार्य तद्नुसार अष्टछाप के कवियों ने किया। वल्लभाचार्य ने जगत और संसार की भांति माया के भी दो भेद किए हैं- विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया वह है जो ब्रह्म के अधीन है, ब्रह्म की सत्य शक्ति है। इसके द्वारा ब्रह्म समस्त जगत का निर्माण करता है। और अविद्या माया वह है जो जीव को काम, क्रोध, मोह आदि के द्वारा वशीभूत करके उसे हरि भक्त से पृथक करके पथभ्रष्ट करती है।

विद्या विधे हरेः शक्ति माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता।।[1]

अष्टछाप के भक्त कवियों ने माया का विस्तार से वर्णन किया है किन्तु इन कवियों ने अविद्या माया का विद्या माया की अपेक्षा अधिक वर्णन किया है। सूरदास ने दोनों प्रकार की माया का वर्णन किया है। जहाँ एक ओर सूरदास ने विद्या माया को ब्रह्म की शक्ति और सृष्टि रचने के कारण माना है, फलस्वरूप उसको सत्य स्वीकार किया है, वहीं दूसरी ओर वे अविद्या माया को भ्रम और भगवान से कपट कराने वाली कहा है। यह अविद्या माया रूपी नटी

---

1. आचार्य वल्लभ, तत्वदीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण, 34

हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है और उसकी बुद्धि को भ्रम में डालती है।[1]

सूरदास की भाँति नन्ददास ने भी माया को विद्या और अविद्या रूपों को स्वीकार किया हैं और दोनों का स्पष्ट कथन उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। 'भंवरगीत' के उद्धव गोपी संवाद में गोपियां उद्धव की युक्तियों का खण्डन करती हुई कहती हैं कि यदि ईश्वर निर्गुण है तो गुण इस जगत में कहाँ से आए। वस्तुतः ईश्वर सगुण है और उनके गुणों की छाया उसकी माया के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुण और प्राकृत गुण अविद्या माया के संसर्ग से भिन्न दीखते हैं। निर्मल जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणों को अविद्या माया की कीच ने गन्दा और मैला बना दिया है और इन्हीं कलुषित गुणों को संसारी जन अपनाते हैं। इस प्रकार हम देखतें है कि इसी एक ही पद में नन्ददास ने शुद्ध-स्वरूपा माया तथा मलमयी अविद्या माया दोनों का वर्णन किया है जो वल्लभ सिद्धान्तानुसार है। हरिदास ने माया को कृष्ण की ही माया माना है जो कि मुनियों को भी मुग्ध कर लेती है।

तुमरी माया बाजी पसारी विचित्र मोहै मुनि सुनि करके भूलै कोउ।[2]

---

1. माया नटिनी लकुट कर लीन्हे कोटिक नाच नचावैं।
   दर-दर लोभ लागि लै डोलत नाना स्वांग करावै।
   तुम सो सपट करावति प्रभु जू मेरी बुद्धि भ्रमावै।
   मन अभिलाष तरंगनि करि-करि मिथ्या निशा जमावै।
   महा मोहनी मोह आत्मा मन करि अघहि लगावै।
   सूरदास-सूरसागर, पृ0 6
2. निम्बार्क माधुरी, पृ0 202

भक्त कवि हरिव्यास ने भी माया को त्रिगणात्मक माना है।

मया त्रिगुन प्रपंच पवन की अंच न आवै तास।[1]

आचार्य वल्लभ ने निराकार मायावाद का खण्डन और साकार शुद्ध ब्रह्मवाद का प्रतिपादन एवं प्रचार किया। सूरदास का उद्घोष था–

सब विधि अगम विचाराहिं
ताते सूर सगुण लीला पद गावै।

पहले स्कन्ध में आठ पदों में सूर ने माया वर्णन किया है। उन्होंने माया के दो रूपों को स्वीकार किया है– अविद्या तथा विद्या। अविद्या मानव को पथभ्रष्ट करती है, उसे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंचने देती। विद्या माया भगवान की अत्यन्त शक्तिशाली चमत्कारी शक्ति है जिसे उन्होने योगमाया कहा है। गौड़ीय वैष्णवों ने योगमाया को लीला शक्ति कहा है। इसी योग माया का विस्तार कर भगवान कृष्ण सारी प्रकट लीलाएं किया करते हैं। इस प्रकार कृष्ण लीला के अर्थ में लीला शब्द की अवधारणा का विकास हुआ।

माया के इस दुस्तर प्रभाव को वैष्णवजनों ने जिस भावात्मक संस्पर्श से रसमय और लीलामय बना लिया है, वह विस्मय की वस्तु है। वैष्णवों ने मायावाद से सम्बन्धित शांकर मत को चुनौती देते हुए इसे परब्रह्म विष्णु के विलास का एक विचित्र शक्तिशाली उपकरण माना है। माया भ्रम मात्र न होकर 'विलास विभ्रम' मानी गयी, अर्थात् विलास के लिए ही लीलामय भगवान ने स्वेच्छा से अपनी सर्वव्यापी अखण्ड एक सत्ता में बहु के आस्तित्त्व को प्रतिभासित किया।[2]

---

1. निम्बार्क माधुरी, पृ0 65
2. श्री राधा का क्रम विकास, डा0 शशिभूषण दास गुप्ता, पृ0 64

वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार एकाकी ब्रह्म ने रमणेच्छा से प्रेरित हो अपने को स्त्री और पुरूष दो रूपों में विभक्त कर लिया। यही आदि मिथुन तत्त्व है। इसी की अभिव्यक्ति सृष्टि के अन्यान्य सभी मिथुनों के भीतर से हुई है। इस आत्मरमण की आदिम इच्छा और तज्जन्य अभेद में भेद कल्पना पर ही वैष्णवों का लीलावाद अवलम्बित है। पुराणों में समीकरण के परिणाम स्वरूप सांख्य के प्रकृति पुरूष को तन्त्र के शक्ति शिव से संयुक्त कर लक्ष्मी विष्णु से पूर्णतः एकमेक कर दिया गया है। यहां पुराणों के लक्ष्मी विष्णु, वेदान्त के माया ब्रह्म, सांख्य के प्रकृति पुरूष और तन्त्र के शक्ति शिव सबकी युगल भावना प्रतिष्ठित हो गयी है। परवर्ती पुराणों में रूक्मिणी कृष्ण और राधा कृष्ण इसी युगल भावना के प्रतिनिधि बन गए है।[1] वृहदारण्यक सूत्र के अनुसार 'अर्हिबुंधन्यसंहिता'[2] में सिसुच्छा विषयक प्रसंग अत्यन्त मनोरम रूप में वर्णित है। इसके अनुसार महाप्रलयकाल में शक्ति विश्व पुरूष में तल्लीन थी। एकाकी ब्रह्म रमण नही कर सकते थे। अतः उस सनातन पुरूष ने लीला के लिए यह सृष्टि रची। पहले उसने नाम रूपादि की सृष्टि की। तदनन्तर लीला की उपकरणभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सृष्टि करके उसी आत्म माया के साथ जर्नादन रमण रत हुए। कल्पान्तर के बाद भगवान पुरूषोत्तम ने लीलारस समुत्सुक होकर ही जगत की सृष्टि करने का विचार किया।[3]

---

1. हिन्दी काव्य में कृष्ण चरित का भावात्मक स्वरूप विकास– डा० तपेश्वरनाथ, पृ० 53
2. अहिर्बुधन्य संहिता, 41/4
3. अहिर्बुधन्य संहिता, 41/4

एकाकी स तदा नैव रमते स्म सनातनः।
स लीलार्थ पुनश्चेदमसजृत पुष्करेक्षणः।।
स पूर्व नाम रूपाणि चक्रे सर्वस्य सर्वगः।
लीलोपकरणां देवः प्रकृतिं तृगृणात्मिकाम्।।
पुराकल्पावसाने तु भगवान पुरूषोत्तमः।
जगत स्रष्टुं मनश्चक्रे तु लीलारस समुत्सुकः।।

अतः जैसा कि ऊपर संकेत किया, अर्हिबुंधन्य संहिता में मुख्यतः शक्ति के दो वर्ग है- (1) क्रिया शक्ति (2) भूति शक्ति। सास्वत संहिता[1] में विष्णु की दो शक्तियां हैं- (1) लक्ष्मी और (2) पुष्टि। इसी में अन्यत्र इन्हें श्री, माया, प्रकृति, सुन्दरी प्रीतिवर्द्धिनी, रति आदि भी कहा गया है। विहगेन्द्र ने दूसरे ओर पराशर संहिता के दशम् अध्याय तक 3 श्याक्तियों के उल्लेख हैं- श्री, भू और लीला। वैसे ही ज्याख्य संहिता[2] में 4 देवियां है- लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया। तन्त्रों और आगमों में महाप्रलय के अन्दर से सृजन का लीला-प्रसार प्रदर्शित हुआ है। स्वच्छ तन्त्र आदि में शक्ति कल्लोल है, जगत उसकी लहरें हैं और परमेश्वर शिव इन तरंगो में बैठकर केलि या लीला किया करते हैं। शिव सूत्र के अनुसार परम शिव की दो शक्तियां है- पराशक्ति और अपराशक्ति। इसे क्रमशः स्वरूप शक्ति तथा माया शक्ति कहते है। पराशक्ति परमानन्दरूपिणी है।[3] वह आनन्दमयी शक्ति महामाया कहलाती है।

इस प्रकार वैष्णव संहिताओं, शैवागमों और शाक्त तन्त्रों से होती हुई यह विष्णु शक्ति पुराणों में श्री या लक्ष्मी रूप में

---

1. सात्वत संहिता, कांजीवरम संस्करण- 13/49
2. वही, 6/77
3. शिव सूत्र- वार्तिक (का० - सं. ग्र० - 43)

मूर्द्धाभिषित हुई। पुराणों में प्रतिष्ठित हो जाने पर कृष्ण चरित में लीलावाद का ऐसा व्यापक प्रसार हुआ कि प्रारम्भ से लेकर अब तक इसके चारो ओर तत्व दर्शन का जो मण्डान था वह जन भावना के परिपाक से अत्यन्त सरस और लोक रजंनकारी स्वरूप में परिणत हो गया।

वैष्णवों के लिए श्रीकृष्ण पर ब्रह्म है। पुराणें में विष्णु शक्ति को प्रकृति या मूल प्रकृति कहा गया है। राधा को प्रकृति रूपा माना गया है। साथ ही वे ब्रह्म की उत्पादिका शक्ति मानी गयी है–[1]

त्वं च शक्ति स्वरूपाऽसि सर्वस्त्री–रूप धारिणी।
ममांगाशंस्वरूपा त्वं मूलप्रकृति रीश्वरी।

शक्ति–शक्तिमान का यह स्वरूप ब्रह्मवैवर्त पुराण में देखने को मिलता है, वहाँ कहा गया है कि श्री राधा ही नारायणी शक्ति है, परा है, एवं नित्या है। पुरूष परमात्मा की वे शक्ति हैं। परमात्मा को वे ही शक्तिमान बनाती हैं, उनके बिना परमात्मा सृष्टि रचना में समर्थ नही है।[2] वहीं आगे कहा गया है, कि राधा ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति हैं, उन्हीं के द्वारा वे सृष्टि करते हैं। जगत में जो कुछ भी शिव और सुन्दर है वह सभी श्री राधा का ही विग्रह है। वे ही माया हैं जिनसे सब विमोहित रहते है।[3] शक्तिस्वरूपा, मूल प्रकृति राधा को ही वहां सृष्टि की आधारभूता बताया गया है।[4] भगवान की स्वरूप शक्ति

---

1. ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण 15,66
2. ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, 30.13
3. ब्रह्मवैवर्त ब्रह्म, 30.12
4. ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण जन्म खण्ड, 15.61

उनकी आत्ममाया है। उसका स्वरूप भी भगवान के स्वरूपानुसार त्रिविध है। भगवान सच्चिदानन्दमय हैं। यह स्वरूपभूता शक्ति भी सत्, चित् और आनन्द के क्रम में संधिनी, संवित् और ह्लादिनी तीन प्रकार की है।[1] ह्लादिनी ह्लादकरी है, अर्थात आनन्दप्रदात्री सत्त्वगुणात्मिका है। संघिनी तापकारी तामसी शक्ति है। यह सत्तात्मिका है। संवित् मिश्रा है, इसे ज्ञान शक्ति समझना चाहिए। अपनी ह्लादिनी शक्ति से भगवान आह्लादित होते हैं तथा दूसरों को आह्लादित करते है। भगवान का ह्लादिनी शक्ति उनकी निज लीला का आधार है। उसी के आस्वाद से वे नित्य रसमय बने रहते हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण को लीला रस प्रदान करने वाली इस ह्लादिनी शक्ति का दूसरा नाम राधा है। राधातापिनी उपनिषद में कहा गया है कि राधा और कृष्ण एक ही रस तत्त्व हैं, परन्तु क्रीड़ा के लिए द्विध हो गए हैं।

'योऽयं राधा यश्च कृष्णां रसाब्धिदेर्हनैकः क्रीडनार्थ द्विधाऽभूता।

गोपियों आदि रस शक्ति राधा का स्वरूप हैं। सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चांदनी और चन्द्र का है। गोपियां उस चांदनी को प्रसार देने वाली किरणें हैं।[2] दार्शनिक शब्दावली में राधा प्रकृति का समष्टि भाव है और गोपियां व्यष्टि भाव।[3]

---

1. विष्णु पुराण– 1.12.69
2. अष्टछाप और वल्लभ समप्रदाय, डा0 दीनदयाल गुप्त, पृ0 506
3. भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास, नलिनी मोहन सान्याल पृ0 42

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा के जिस प्रकार दो रूप है- आदि रस शक्ति और मधुर भाव की सिद्ध भक्ता- उसी प्रकार गोपियों के भी दो रूप है। एक रूप में वे ईश्वर की आनन्दकारिणी शक्ति-स्वरूप हैं और अपने दूसरे रूप में कान्ताभाव से ईश्वर की अनन्य भक्ति करने वाली भक्त हैं।[1]

---

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा0 दीन दयाल गुप्त पृ0 509

पंचम अध्याय

---- 0 -----

सगुण भक्तिकाव्य, लीला और साहित्यिक अभिव्यक्ति

सगुण भक्ति काव्य, लीला और साहित्यिक अभिव्यक्ति

भक्ति काव्य के अन्तर्गत लीला की अवधारणा ने इसको परम्परा से हटकर मूल्यांकित करने के लिए एक भिन्न आधार दिया, कारण कि परम्परित काव्य का सम्बन्ध लोकानुभव से था। मानव जाति के प्रकृत आचरण को रस से जोड़ा गया और उससे होने वाली अनुभूति को काव्यानुभूति के नाम से पुकारा गया। श्रृंगार, हास्य, करूण आदि सन्दर्भ मानव जाति के स्वाभाविक और नैसर्गिक सन्दर्भो से जुड़े हुए हैं। भक्ति काव्य थोड़ी सी भिन्न है। परम्परा का ललित भाव यहां लोक को अंतिम सत्य मानता है, वहीं लीला के अन्तर्गत प्रभु का आचरण एवम् उससे सम्बद्ध भाव लोक से जुड़े होते हुए भी आभासमात्र हैं, वे अंतिम सत्य नहीं हैं। सामान्यतया इन कवियों ने कवि के लीला जनित से उत्पन्न आचरण को आध्यात्मिक अनुभव का माध्यम बनाया है किन्तु लोक काव्य में यह किसी अन्य अनुभव को व्यंजित करने का माध्यम न होकर स्वयमेव में आस्वादन स्वरूप है।

इस प्रकार यहां परम्परित लोक काव्य में रस स्वयं साध्य है वही भक्त से सम्बद्ध लीलाकाव्य के अन्तर्गत वह साधना है, और साध्य है अध्यात्मिक अनुभूति, जिसे सगुण भक्ताचार्यो ने भक्तिरस की संज्ञा दी। इस तरह आस्वादन की दृष्टि से परम्परित रस चिन्तन भक्तिकाव्य की व्याख्या के लिए आधार नही बन सकता। भक्ति काव्य की यह परिणत लोक और अध्यात्म के द्वन्द्व की निष्पत्ति है और इसका विवेचन लीला के माध्यम से ही सम्भव है। इस लिए भक्ति

लीला के सापेक्ष में सगुण भक्ति काव्य की व्याख्या के लिए भक्ति रस मूल आधार है न कि काव्यरस।

लीला का सम्बन्ध ब्रह्म के विविध अवतारों से है परम्परा में गीता तथा पुराणों के अन्तर्गत इन अवतार हेतुओं की चर्चा की गई है जैसे–

1. असुर और राक्षस वध
2. पृथ्वी के भार का उद्धार
3. ब्राह्मण की रक्षा
4. धर्म के क्षरण से उसकी रक्षा करना
5. गाय की रक्षा करना

इन निषेधात्मक काव्यों के साथ ही साथ भक्त कवियों के अवतार के उद्देश्य के सम्बन्ध में कतिपय भावात्मक तत्त्वों की बात कही। जैसे– दैविक मूल्यों का विकास, साधु और सन्तों के समग्र आचरण को पुनः स्थापित करना, भक्ति का प्रचार, साथ ही साथ ब्रह्म की अपनी लीला का विस्तार भी इसी अवतार से जुड़ा हुआ है। भक्त कवियों ने अवतार तथा हेतुओं की बड़ी व्यापक कल्पना की है और इस कल्पना के अन्तर्गत मानव जीवन के लिए मंगल परक समृद्धिपूर्ण तत्त्वों के विकास की चर्चा की है।

भारतीय परम्परित साहित्य की प्रकृति कुछ भिन्न रही है। कार्य प्रयोजन के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरूषार्थ चतुष्टयों की चर्चा तो अवश्य की गई है किन्तु अधिकांशतया भारतीय काव्य ललित परम्परा से होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के

कलात्मक मूल्यों और मानदण्डों की चर्चा दण्डि, वामन आदि करते हैं यही नहीं, ध्वनि व वक्रोक्तिवादी आचार्य भी लोक मंगल से जुडे इन मानवीय मूल्यों की सृजन में अनिवार्य अभिव्यक्त के रूप की चर्चा नहीं करते। सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि संस्कृत का सम्पूर्ण ललित साहित्य कला सापेक्ष है और आनन्द की अभिव्यक्ति ही इसका मुख्य धर्म है। किन्तु सगुण भक्ति काव्य का जहां अध्ययन करते हैं तो पाते हैं यह काव्य लोक मंगल की व्यापक हितैषिता का पदेन पदेन समर्थन करता है ऐसी स्थिति में इस नैतिक मूल्यों की व्याख्या के लिए हमें भारतीय परम्परा की आध्यात्मिक कविता की ओर दृष्टि डालनी पड़ेगी और भक्त साहित्य के विशेषण के लिए एतद् विषयक इस साहित्य में सन्निहित मानदण्डों का अन्वेषण करना पड़ेगा।

इस प्रकार परम्परित साहित्य से भिन्न सगुण भक्ति काव्य की साहित्यिक व्याख्या करने के लिए हमें ललित काव्य की परम्परा से भिन्न मानदण्डों की तलाश करनी पड़ेगी।

सगुण भक्ति साहित्य का लीला काव्य लोक अनुभव की व्यापकता और विराट्ता का काव्य है। इसमें अभिव्यक्त लोकानुभव इतना विराट है कि वह किसी शास्त्र की सीमा में पूरी तरह से आबद्ध नही है। उदाहरण के लिए प्रेम को ही ले लें। साहित्यिक परम्परा में प्रेम सन्दर्भ की व्यापक शास्त्रीय रूपरेखा मिलती है किन्तु भारतीय काव्य में कहीं भी स्वछन्द प्रेम की चर्चा नहीं की गयी है। यही नहीं, भारतीय ललित कविता में काव्यानन्द की व्याख्यायें तो अनेक मिलती हैं लेकिन आध्यात्मिक आनन्द (ब्रह्मानन्द) की कोई व्याख्या नहीं है।

सामान्यतया साहित्य दर्पण में यह कहा गया है कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द के सदृश है। ठीक इसके प्रतिकूल भक्त कवि ब्रह्मानन्द के रसिक हैं, काव्यानन्द तो उनके लिए माध्यम मात्र है। ऐसी स्थिति में इन तत्त्वों की व्याख्या कैसे की जाये यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसकी व्याख्या में स्वयं काव्यरस और भक्ति रस पूरी तरह समर्थ नही हो पाते क्योंकि इनकी दृष्टि शास्त्रीय है जबकि सगुण लीला भक्ति काव्य में शास्त्रीय अनुभव को तोड़कर स्वछन्द लोक अनुभव में बार-बार जीवन जीने की चेष्टा कीगयी है इसलिए भक्ति कविता के मूल्यों का विवेचन करने के लिए भिन्न सौन्दर्य परक मानदण्डों की तलाश करनी पड़ेगी और इस प्रकार भक्ति साहित्य का अध्ययन परम्परित ललित काव्य के शास्त्रीय दृष्टि से संभव नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से सगुण भक्ति काव्य के अन्तर्गत लीला की अवधारणा के स्वीकृति के कारण सृजन के तीन पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण होकर उभरें है जो इस प्रकार है-

1. भक्तिरस की रसानुभूति का सन्दर्भ
2. लोकमंगल एवम् नैतिक हितवाद का सन्दर्भ
3. सौन्दर्य शास्त्रीय अवधारणा

यदि लीला का आधार इन भक्त कवियों ने न लिया होता तो ये समस्यायें प्रायः उपेक्षित हो जाती, किन्तु लीला की अवधारण से सम्बद्ध होने के कारण ललित साहित्य के अवधारणा से यह लीला इसे भिन्न कर देती है, संक्षेप में इसका विवेचन इस प्रकार है-

1. भक्तिरस की रसानुभूति का सन्दर्भ :-

सामान्य रस से भक्तिरस के प्रवर्तन का श्रेय रूप गोस्वामी को दिया जाता है। रूप गोस्वामी सम्भवतया भक्तिरस के सर्व प्रबल व्यवस्थापक आचार्य हैं। मधुसूदन सरस्वती, आचार्य वल्लभ एवं कवि कर्णपूर गोस्वामी की भक्तिरस सम्बन्धी मान्यताएं उनकी व्यापक स्वीकृति के लिए स्पष्ट प्रमाण हैं। पुराणों में विशेषकर भागवत के वेणुगीत एवम् रासप्रकरण में रस का अनेक बार उल्लेख हुआ है। रूप गोस्वामी ने स्वयं श्रीधर की चन्द्रिका का उल्लेख किया है किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति आप्राप्य है।[1] साधरणीकरण की प्रक्रिया में इन्होंने ध्वनिवाद एवम् आचार्य भरत का भी नाम लिया है।[2] यह एक ऐसी परम्परा है जो शुद्ध काव्यशास्त्र से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। मधुसूदन सरस्वती का प्रयत्न इस दिशा में निश्चित ही रूपगोस्वामी से अधिक वैज्ञानिक एवम् तर्क संगत है। रस निरूपण की प्रक्रिया के क्रम में उन्होंने शुद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा में स्वीकृत ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, व्यंजनास आदि को भक्तिरस पोषक एवम् सहायक तत्त्व स्वीकार किया है उनके अनुसार भक्तिकाव्य में व्यवहृत काव्य के ये तत्त्व भक्तिरस का वर्धन एवम् पोषण करते हैं। आचार्य वल्लभ भी

---

1. श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु पश्चिम विभाग मुख्य भक्तिरस, पंचकनिरूपणे प्रीति भक्तिरस लहरी, श्लोक सं0 1
2. पंचमस्थायी भाव लहरी, श्लोक संख्या 75 से 84 तक,

प्रायः काव्य के समानान्तर ही भक्तिरस की व्याख्या करते हैं।[1] उनके अनुसार काव्य में स्वीकृत रस शुद्ध रस है एवं भक्ति काव्यों का रस धर्ममूलक है। कविकर्णपूर गोस्वामी आलंकारिक आचार्य हैं। इन्होंने भक्तिरस की व्याख्या काव्य रस के सन्दर्भ में की है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में भक्ति रस की व्याख्या हरिव्यासदेव ने 'सिद्धान्त रत्नावली' में की है किन्तु उसका आधार रूपगोस्वामी कृत 'श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ही रहा है। आचार्य वल्लभ की परम्परा में हिन्दी के कवियों में नन्ददास का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है उन्होंने रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी तथा रसमञ्जरी में भक्तिरस की चर्चा की है। चैतन्य चरितामृत मध्य भाग की व्याख्या में कवि कृष्णदास एवम् वृन्दावन दास भक्तिरस की व्याख्या करते हैं किन्तु इनका आधार रूपगोस्वामी का ही मत रहा है। आधुनिक लेखकों में बंगाल के सगुण भक्त कवियों को लेकर भक्तिरस की उसी क्रम में व्याख्या श्री दिनेश चन्द्र सेन, डा० सुकुमार सेन, एस०के०डे० आदि ने की है। इसमें डा० डे का मत विशेष उल्लेखनीय है।[2] उन्होंने भक्तिरस की विस्तृत व्याख्या 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टली' में की है।[3] इसके अतिरिक्त उनकी 'वैशनव फेथ एण्ड मूवमेन्ट' भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में भक्तिरस के समर्थन की ओर पं० राम दहिन मिश्र का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत

---

1. रसपंचाध्यायी एवं वेणुगीत का भाष्य–आचार्य वल्लभ
2. भा० एच० क्यू०, भाग 8, 1932
3. राम दहिन मिश्र, काव्य दर्पण, रस प्रकरण

'सूर साहित्य' में भक्तिरस के प्रयोग की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भक्तिरस स्वरूप एवम् उसकी परिभाषा में इन भक्ताचार्यो में मतैक्य नही हैं। ये प्रायः उनके स्वरूप के ही स्थिरीकरण में प्रवृत्त दिखायी देते हैं। मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस को इस प्रकार परिभाषित करते है- "भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से सुखमूलक स्थायीभाव निर्मित होकर भक्तिरस की व्यंजना करते हैं।"[1]

इस परिभाषा में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं- प्रथम विभावानुभाव संचारी के संयोग से सुखमूलक स्थायी भावों की सृष्टि एवं द्वितीय भक्तिरस का व्यंजित होना। भरत के प्रसिद्ध रसोत्पत्ति के सूत्र में सुखमूलकता का संकेत नही है। परवर्ती आचार्यो में भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ही रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में सुखमूलकता का संकेत करते हैं। मधुसूदन सरस्वती का यह विचार पूर्ण स्पष्ट है। उन्होंने भक्ति की आनन्दमूलक को स्पष्ट करने के लिए उसे सुख मूलक स्वीकार किया है। भक्ति काव्य में विरतिमूलक रस करूण, वीभत्स, भयानक एवं रौद्र के लिए सम्भवतया कोई स्थान नही है। यही कारण है कि इनके अनुसार रसभाव चार है- शुद्ध, मिश्रित, संकीर्ण, मिश्रित।[2] शुद्ध रस उनके अनुसार भक्ति ही है। जो संख्या में तीन है ये वत्सल, प्रेयस एवं मधुर है। संकीर्ण भावों में सुखमूलकता भी अत्यल्प ही है। वे भाव रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत

---

1. भक्ति रसायन, तृतीय उललास, श्लोक सं0 1
2. भक्ति रसायन, द्वितीय उल्लास, श्लोक सं0 34, 36

एवं शान्त हैं। इनसे अधिक रस प्रबल भाव संकीर्ण मिश्रित है; जिनमें श्रृंगार, हास्य आदि आते हैं। यही श्रृंगार हास्य आदि जब भक्ति काव्य में प्रयुक्त होकर भक्तिरस के अंग बन जाते है; तब इन्हें केवल मिश्रित कहा जाता है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस का स्वभाव आनन्द मूलक मानते है।[1]

मधुसूदन सरस्वती की दूसरी धारणा है कि रस व्यंजित होता है। यह वस्तुतः उनकी मौलिक स्थापना न होकर आनन्दवर्धन के मत का पुनराख्यान मात्र है। आनन्दवर्धन ने रस को अंश लक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध करके इसकी व्यंजकता का प्रबल समर्थन किया है। बाद में अभिनव गुप्त ने इसी व्यंजना शक्ति के आधार पर अपने साधारणीकरण के प्रसिद्ध सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया जिससे प्रकट रस की अनुभूति का अनुभूति की अवस्था में ज्ञान हो जाना स्वशब्दवाच्यत्त्वदोष कहलाता है। ठीक उसी प्रकार भक्तिरस की अनुभूति भी है- वह न तो दृश्य है, न श्रव्य है, न ज्ञाप्य, अपितु तीनों से पृथक मात्र अनुभूतिपरक है। अतः न उसका प्रत्यक्ष आस्वाद हो सकता है न अनुमानग्रम्य ही, अपितु वह विभावादि के माध्यम से व्यंजित होकर भक्त को अनुभूत होती है। यह वस्तुतः भक्तिरस की उत्कटता का प्रमाण है, दूसरे शब्दों में मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भी भक्तिरस की सुखमूलक अनुभूति उत्कट होने के कारण ही व्यंग है अर्थात् भक्तिरस गुण की एक चरम स्थिति है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस के दो लक्षण हैः–

---

1. शुद्धा च वत्सलरतिः प्रेयोरति इतित्रयी
भावान्तरामिश्रितत्त्वादमिका रतिरूच्यते। 3:34

1.यह सुखमूलक मानसिक स्थिति है।

2.साधारणीकरण या अनुभूति के स्तर पर यह अत्यधिक उत्कट होता

है। मधुसूदन सरस्वती के इस धारणा का विकास आगेनही हो सका।

रूप गोस्वामी की परिभाषा मधुसूदन सरस्वती से किंचित भिन्न है। यदि मधुसूदन सरस्वती आनन्दवर्धन का समर्थन करते हैं तो रूपगोस्वामी आयार्च भरत का। उनके अनुसार भक्तिरस की परिभाषा इस प्रकार है– "विभाव, अनुभाव सात्त्विक एवं व्यभिचारी भाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है। यही रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनों द्वारा संयुक्त होकर भक्तों के मनस् में पुष्ट होती है। इस प्रकार इसका स्थायी भाव कृष्णरति है। इसी कृष्णरति स्थायीकरण से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है।"[1]

इस परिभाषा के चार तत्त्व है किन्तु परस्पर एक दूसरे के पूरक है, वे ये है–

1. भक्तिरस समस्त विभावादि की सामग्री से पुष्ट होकर रसता को प्राप्त होता है।
2. यह भक्तों के हृदय में आस्वाध होता है।
3. इसके लिए कृष्ण रति अनिवार्य है।
4. यह कृष्णरति श्रवणादि साधनों से पुष्ट होती है।

---

1. दक्षिण विभाग, विभाग लहरी, श्लोक सं0 5,6

विभावों का पुष्ट होना काव्यशास्त्रीय रस परम्परा में उसकी निष्पन्नता के लिए सर्वथा मौलिक तत्त्व है। आचार्य भरतने रस निष्पत्ति के लिए संयोग भट्टलोल्लट ने विभावादि का सम्बन्ध अनिवार्य बताया था। शंकुक के अनुसार रस निष्पत्ति के लिए अनुमान अपेक्षित है। भट्टानायक सामाजिकों द्वारा मांग किये जाने पर रस मुक्ति अनिवार्य मानते है। अभिनव गुप्त के अनुसार विभावादि के ध्वनन से रस निष्पन्न होता है। किन्तु रूप गोस्वामी इन सबके विपरीत विभावादि की पुष्टि को रसास्वाद का कारण स्वीकार करते हैं। इस पुष्टि के लिए उन्होंने जिन साधनों को अनिवार्य बताया है। वे नवधा भक्ति के श्रवणादि साधन हैं। अतः भक्तिरस प्रक्रिया में नवधा भक्तिरस को पुष्ट करने का प्रथम साधन है किन्तु रस प्रक्रिया के साधनों में विभावादि परम्परा से ही चले आ रहे हैं। रूपगोस्वामी ने उनमें सात्त्विक भावों को और भी जोड़ दिया है जो असंगत है। इन साधनों के द्वारा ही भक्ति रस की निष्पत्ति सम्भव है। भक्तिरस के विषय में इनका भक्ति मूलक होना अनिवार्य है किन्तु इस परिभाषा के सन्दर्भ में रूप गोस्वामी इसका कोई संकेत न करके पुनश्च भक्त के साधनों को भक्तिरस की निष्पत्ति का साधन मानते हैं जो सर्वथा असंगत है। उनके अनुसार भक्ति के साधन की कृष्णरस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं, किन्तु इनका प्रयोग इन्ही विभावादि में ही किया जाना अनिवार्य है। भक्तिरस के पृथक-पृथक निरूपण में वे इसी का समर्थन भी करते हैं। अतः श्रवणादि साधनों को विभावानुभाव आदि से पृथक नही रखा जा सकता। रूपगोस्वामी के अनुसार यही भक्ति के भाव

पुष्ट होकर रस बनते है, यहां पुष्टि का अर्थ भक्तों की मनोवृत्ति का एक मात्र ईश्वरोन्मुख हो जाना। इसी वृत्ति के फलस्वरूप कृष्णरति का जन्म होता है। यही कृष्ण रति अन्ततः भक्तों के हृदय में पुष्ट होकर भक्तिरस बन जाता है। इस प्रकार रूपगोस्वामी के अनुसार बिना ईश्वरोन्मुख मनोवृत्ति के भक्तिरस की निष्पत्ति असंभव है।[1]

भक्तिरस की निष्पत्ति के विषय में वल्लभ सम्प्रदाय में भी प्रयास किया गया किन्तु यह अपेक्षाकृत अस्पष्ट है। क्योंकि भक्तिरस पर स्वतन्त्र रूप से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। वल्लभाचार्य ने भक्तिरस का महत्वपूर्ण संकेत भागवत की सुबोधिनी टीका के रासपंचाध्यायी एवं वेणुगीत प्रंसग में किया है। वेणुगीत के श्लोक 4 में उन्होंने लीलारस को नाट्यरस के समान बताया है। इस प्रसंग में भक्तिरस को धर्मसहित कहा है। इस धर्म सहित रस की निष्पत्ति उनके अनुसार इस प्रकार होती हैः-

''काव्य रस की भांति भक्तिरस के फल के बोधार्थ सर्वप्रथम भक्तिचेतना का स्फुरण होता है। शास्त्रज्ञान के फलस्वरूप यही अंकुर आगे बढ़कर कलिका के रूप में हो जाता है। जब संस्कार यपी रात्रि भक्ति चेतना को आच्छन्न कर लेती है, तब इस गूढ़ स्थिति में सुगन्धित रूप से भक्तिरस की निष्पत्ति होती है। भक्त के मस्तिष्क में कृष्ण प्रेम की वासना उत्कट एवं आह्लादक होने के कारण रस बन

---

1. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभागः भाव भक्त लहरी।

जाती है। यह वस्तुतः भक्ति के द्वारा भक्तों के प्राप्त होने वाला आनन्द है। उनके अनुसार यही आनन्द ही भक्तिरस है।''

वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में भक्तिरस का कथन मिलता है। वल्लभपुष्टिप्रकाश में श्रीकृष्ण को चतुर्दसरसलीला का कर्ता माना गया है।[1] इसमें भक्तिरस का स्थायी भाव रति बताया गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि कृष्ण के दक्षिण भाग में राधा विराजमान है जिनका स्वरूप श्रृंगारात्मक है। यही श्रृंगारात्मक वेष भगवान कृष्ण का उद्दीपन विभाव है और कृष्ण का स्वरूप इस श्रृंगार रस का उद्भावक है।[2] भक्तिरस की निष्पत्ति का एक विचित्र उल्लेख इसमें मिलता है। कृष्ण और गोपिका यूथों के साथ प्रयुक्त क्रीड़ा में विभक्त हैं। कृष्ण को दो भागों में विभक्त किया गया है, प्रथम श्वेत है जो निर्गुण है, द्वितीय सगुण है जो नीलवर्ण युक्त है। दूसरी ओर कृष्णप्रिया राधा का यूथ है। इसमें निर्गुण ब्रह्म विभाव, सगुण ब्रह्म अनुभाव तथा प्रिया का यूथ व्यभिचारी भाव है। इन सभी के संयोग से भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।[3]

निम्बार्क सम्प्रदाय में आचार्य हरिव्यास देव ने 'सिद्धान्त रत्नावली' में भक्तिरस की व्याख्या की है। इसके साथ ही रसिकोपासक राम भक्तों में सुन्दर मणिसंदर्भ नामक ग्रन्थ भी भक्ति विषयक मान्यता का सशक्त आधार माना जाता है किन्तु इन ग्रन्थों

---

1. सो वन में चतुर्दश लीला किये सो स्थायी भाव को प्रत्येक रसन में प्रकटि करि ब्रजजन विषय उद्बोधन करने, नवरस को स्थायी भाव नव होय, भक्तिरस को स्थायी रति है। पृ0 224
2. वल्लभ पुष्टि प्रकाश, पृ0 233
3. वल्लभ पुष्टि प्रकाश, पृ0 275

में भक्तिरस विषयक मौलिक विवेचनाएं प्राप्त नहीं हैं। रूप गोस्वामी की एतद्विषयक मान्यताओं का यहाँ पुनर्कथन मात्र है।

भक्तिरस के विषय में कविकर्णपूर गोस्वामी का मत भी उल्लेखनीय समझा जाता है। 'अलंकार कौस्तुभ' के 'पंचम किरण'[1] में इन्होंने रस की व्याख्या करते हुए समस्त रसों को प्रेम से निष्पन्न बताया है। उनके अनुसार भक्तिरस शेष 10 रसों में अपना पृथक स्थान रखता है। भक्तिरस के आचार्यो का कथन कि भक्ति अंगीरस है- अनुचित है। क्योंकि राधा कृष्ण का श्रृंगार भी वस्तुतः प्रेम ही है। भक्ति के क्षेत्र में यह मधुर रस के नाम से पुकारा जाता है। अतः यह मधुर रस प्रेम से ही निष्पन्न होता है। भक्तिरस का स्वरूप उनके अनुसार श्रृंङ्गारात्मक या प्रेमपरक है। शेष, भक्ति रस के विषय में इनका विशेष योगदान नही है। वस्तुतः ये भक्त आचार्य न होकर आलंकारिक शास्त्राकार ठहरते है।

सगुण भक्त कवियों की रस सम्बन्धी अवधारणा :-

सगुण काव्य की पृष्ठिभूमि में स्वीकृत रस सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चित ही अपना पृथक अस्तित्त्व रखते हैं इन धारणाओं से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं- प्रथम यह कि इस काव्य का मूल दृष्टिकोण अन्य मापदण्ड़ों से पृथक मात्र रस बहुल ही है। द्वितीय यहकि रस सिद्धान्त में मधुर को अधिकाधिक महत्त्व दिया गया। मधुसूदन सरस्वती प्रियता को भक्तिकाव्य का स्थायी भाव मानकर शुद्ध

---

1. अलंकार कौस्तुभ, पंचम किरण, पृ0 148, 149

भक्ति रस की सत्ता विशुद्ध प्रेयस् एवम् वत्सल भाव में स्वीकार करते है। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण के वियोग आनन्द की महत्ता स्वीकार करके उसे सर्वतौधिक उत्कट गणितानन्द की संज्ञा दी गयी है। रूप गोस्वामी इस मधुर रस के सर्वप्रबल समर्थक हैं। आचार्य निम्बार्क भागवत आसक्तियों में कान्तारति को उज्ज्वल रति के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन सगुण भक्त कवि भी रस शब्द का प्रयोग इसी सन्दर्भ में करते हैं। तुलसीदास ने मानस रूपक के सन्दर्भ में काव्य के नवरस को चारू तड़ाग का जलचर कहा है। धनुष भंग के प्रसंग में राम के उदात्त व्यक्तित्व में शान्त, वात्सल्य, वीर, अद्‌भुत, भयानक, श्रृंगार के समाहित होने की बात कही है।[1] बाललीला की अलौकिकता की ओर संकेत करते हुए सूर ने कहा है कि जिस रस का उपभोग नन्द और यशोदा करते हैं, वह त्रिभुवन दुर्लभ है।[2] रसमञ्जरी के अन्तर्गत नन्ददास उसे रस की अनूठी रचना बताते हुए सम्पूर्ण रसानन्द के अधिष्ठान के रूप में उन्होंने कृष्ण का स्तवन किया है। भक्तकाल कृष्ण भक्त कवियों के सन्दर्भ में सूरदास, चैतन्य, वल्लभ, नन्ददास को रस का स्रष्टा कहा गया है। चैतन्य सम्प्रदाय के सभी कवियों ने एकमत होकर कृष्ण को अपनी अन्तिम गति बतायी है। हरिदासी, हरिव्यासी एवं राधाबल्ली सम्प्रदाय के समस्त कवि प्रेममूलक श्रृंगार या मधुर भक्तिरस के प्रबल समर्थक ज्ञात होते हैं इनके इस दृष्टिकोण को समझने के लिए उनकी

---

1. मानस, बालकांड, दोहा संख्या 241 तथा 242
2. सूर सागर, पद संख्या 856

रस सम्बन्धी धारणा का पृथक रूप से अध्ययन करना अपेक्षित है। इन कवियों की रस विषयक धारणायें निम्न हैं-

कृष्णरस- ये कवि काव्यशास्त्री नहीं हैं। इन्होंने भाव, विभाव एवं अनुभावों की सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं की है, किन्तु भक्ति के आवेश में आकर रस शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस कृष्णरस का संकेत प्रायः राधावल्लभी, हरिदासी, हरिव्यासी एवं यत्किंचित वल्लभ सम्प्रदाय में हुआ है। सूरदास इस रस की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि जिस व्यक्ति का मन इस रस में लग जाता है उसे अन्य रस फीके लगते हैं। इस कृष्ण रस का कारण राधा एवं कृष्ण की परस्पर केलि माना है। वे कहते हैं कि राधा और कृष्ण परस्पर केलिक्रीड़ा से कृष्णरस की वर्षा कर रहे हैं। कृष्णरस की उत्कृष्टता का समर्थन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि हरिराम व्यास करते हैं।

प्रेमरस - कृष्णरस के बाद इन कवियों ने प्रेमरस की चर्चा की। प्रेमरस को उन्होंने दो प्रकार का माना है-

1. साधन रूप प्रेमरस   2. साध्य रूप प्रेम रस

1. साधन रूप प्रेमरसः-

निम्बार्क माधुरी में इस साधन रूप प्रेमरस का उल्लेख करते हुए 'हरिप्रिया' ने बताया है कि यह प्रेमरस पराप्रेम का पंथ है। यह नित्य रास, रस के उल्लास एवम् आनन्द का प्रेरक तथा प्रतिष्ठापरक है। यह साधनरूप रस समस्त तत्त्वों में सत्व, समस्त सिद्धान्तों का सार तथा समस्त सुखों का उद्भावक है।[1] इस

---

1. निम्बार्क माधुरी, श्री हरिप्रिया, पृ० 59

साधन-रूप प्रेमरस का संकेत करते हुए नन्ददास ने बताया है कि यह रस कृष्ण केलि से ही निष्पन्न होता है।

2. **साध्य रूप प्रेमरस :-**

यह साधन-रूप प्रेमरस से किंचित भिन्न है। इस साध्य रूप प्रेमरस की व्याख्या चतुर्भुज दास ने इसका स्वभाव अतृप्ति कर बताया है। इस साध्य रूप प्रेम रस का कारण स्वतः लीला रूप कृष्ण हैं। इस लीला रूप को सूर ने प्रेम का सागर कहा है जिसमें निमग्न होकर गोप-ग्वाल-गोपिकाएं विह्वल हो जाती है।[1] साध्य प्रेमरस सम्बन्धी अनेक पद मीरा साहित्य में मिलते हैं उन्होंने अनेक बार इस प्रेमरस में निमग्न हो जाने की बात कही है।

रासरसः- इन रसों के साथ कवियों ने रास को पृथक रूप से रस की संज्ञा दी है। रस इसीलिए है कि क्योंकि आनन्द का उद्भावक एवम् प्रेम का एकमात्र साक्षी है। कृष्ण भक्ति काव्य के कवियों ने मुक्त कण्ठ से रास को रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस रासरस की तुलना में अन्य रस गौड़ हो जाते हैं।

लीलारस- कृष्ण भक्तिकाव्य के सगुण कवि कृष्ण की वात्सलय एवं मधुर लीला को लीलारस के नाम से सम्बोधित करते हैं। सूरदास ने अनेक बार कृष्ण के वात्सल्य के लिए लीलारस कहा है।

परमानन्द दास कृष्ण को परम आनन्दमय स्वीकार करके कहते हैं कि लीला स्वतः ही रस रूप है। चूंकि उनकी लीला रस

---

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद सं0 64

रीति पर अवतरित है अतः इसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य स्वरूप ही नहीं। इस लीलारस के अन्तर्गत इन कवियों ने राधाकृष्ण की केलि विषयक एवम् मधुर भाव से अनुप्राणित पद ही रखे हैं कि राधा और कृष्ण परस्पर क्रीड़ा करते हुए लीलारस को प्रिया का एकमात्र अंग माना है।

उज्ज्वल रस– उज्ज्वल रस का उल्लेख सामान्यतया तीन कवियों ने किया है अष्टछापी, नन्ददास, हरिदासी सरसदास एवं राधावल्लभी हरीराम व्यास ने। नन्ददास ने उज्ज्वल का स्वभाव बतलाते हुए कहा है कि इसके उत्पन्न होते ही आलम्बन आश्रय एवम् विषय अलौकिक हो जाते हैं। दूसरे स्थल पर वे रास पंचाध्यायी के प्रसंग रस ध्वनि को उज्ज्वल रस की संज्ञा देते है।[1]

अन्यरस – इसके अतिरिक्त सगुण कवियों ने अनेक स्थलों पर रस की अनेक रूप में चर्चा की। तुलसी ने काव्य रस का संकेत किया है, उन्होंने शान्त, हास्य, करूण, श्रृंगार, वीभत्स, वीर, अद्भुत आदि की यत्र तत्र चर्चा की है। सूर एवम् नन्ददास ने श्रृंगार रस का उल्लेख किया है। इन काव्यरसों के साथ ही साथ ये कवि अन्य कवित्त रसों की भी चर्चा करते हैं राधावल्लभी हितहरिवंश एवम् हरीराम व्यास वृन्दावन को रस स्वीकार करते हैं क्योंकि वह उनके आराध्य की क्रीड़ास्थली है। उन्होंने इससे पृथक भी गानरस, सेज्यारस, आतुररस, विहाररस, रतिरस आदि अनेक रसों का स्वीकरण किया है।

---

1. रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, रोला संख्या 71 तथा पंचम अध्याय रोला सं0 40 तथा 91

इस प्रकार सगुण भक्त कवियों की रस विषयक इन धारणाओं से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. रस का अर्थ वे मात्र आनन्द से लेते हैं। इनके अनुसार रस आनन्द है।
2. इस आनन्दरस की मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने इसे उज्ज्वलरस, प्रेमरस एवं भक्तिरस की अभिधा दी है। प्रेमरस प्रेम क्रीड़ा में आसक्त भक्त मन का वह स्वभाव है जो प्रेम मूलक स्थिति विशेष में विह्वल हो उठता है। उज्ज्वल रस सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। कृष्ण के उदात्त प्रेम को इन्होंने उज्ज्वल रस कहा है। भक्ति रस इन सबसे पृथक है। इन कवियों के अनुसार वात्सल्य दैन्य, सख्य, मधुर आदि समस्त भावों में भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।
3. रस के ये कथन सांकेतिक रूप से इनकी काव्य प्रकृति का भी संकेत करते हैं, यद्यपि सत्य है कि समस्त सगुण भक्त कवियों ने इन रसों का संकेत नही किया है किन्तु आनन्द की एक विशेष स्थिति को प्रायः सभी ने इस रूप में स्वीकार किया है।
4. इन रसों का एक और भी स्वभाव है। सगुण काव्य शास्त्रों में रस का उल्लेख मिलता है। ये रस है– शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल्य एवं मधुर। मधुसूदन सरस्वती ने तीन ही भावों को रति की संज्ञा दी है। वल्लभ सम्प्रदाय में सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यभाव को प्रधानता मिली है इसके अतिरिक्त निम्बार्क तथा रसिक सम्प्रदायों में पांच रस की चर्चा की गई है।

5. ये कवि एवम् भक्त आचार्य कृष्ण एवम् राम के उस उदात्त व्यक्तित्व से सम्बन्धित भावों का विवेचन नहीं करते। जिससे सम्बन्धित पद अष्टछाप एवम् राम भक्ति काव्य साहित्य में प्राप्त हैं।

परम्परित रस एवम् भक्तिरस का तुलनात्मक अनुशीलन–

(क) स्वभाव :

सगुण भक्तकवियों के रस सम्बन्धी प्रयोगों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है कि इनका दृष्टिकोण उसके आनन्दात्मक स्वरूप से सम्बन्धित था। इस आनन्दात्मक दृष्टिकोण को पुष्ट करने वाले मुख्य तीन भाव है– सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। शान्तरस के विषय में इसका दृष्टिकोण प्रायः तृष्णाक्षयसुख के समक्ष है तथा दास्य के मूल में इनकी आत्मतुष्टि की भावना निहित है। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि मैं अपनी समस्त आपत्तियों को आप में समर्पित करके तुष्ट हो गया हूँ। दास्य वस्तुतः स्वामी के प्रति दास्यमन का समर्पण है। इस प्रकार रस के विषय में कथित इनके दृष्टिकोण मूलतः आनन्दात्मक हैं। यदि इनके दो में प्रधानता की दृष्टि से देखा जाय तो ओज सम्बन्धी पद भी उत्साह भाव के सूचक न होकर रतिमूलक भावना के समर्थक ही हैं। निष्कर्षतः सगुण भक्त कवियों की रसविषयक मूल प्रवृत्ति रतिमूलक है।

रति मानव की एक मूल प्रवृत्ति है जिसका विकास उसमें तृप्ति एवम् अतृप्ति मूलक भावनाओं के साथ होता चलता है। तृप्ति और अतृप्ति व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के साथ विकसित होकर मात्र

रति की ही सृष्टि नही करते अपितु उनसे विरतिमूलक भावनाओं का विकास होता है। मैग्डुगल प्रवृत्तियों को दो विभागों में रखकर उन्हें स्रजनात्मक एवं विनाशात्मक भावों की संज्ञा देता है।

स्रजनात्मक भाव प्रेम, उत्साह, सहगामिता एवं विनाशात्मक इर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि है। स्रजनात्मक भावना तृप्तिमूलक भावनाअें से विकसित होती है एवं ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का विकास अतृप्तिमूलक भावनाओं से होता है। रस मन के भावना जगत से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होने के कारण 'इस स्वभाव से पृथक नही हो पाता' इनके अधिकाधिक लक्षण उनमें मेल खा जाते हैं। इस दृष्टि से रस को दो भागों में रखा जा सकता हैः-

1 रतिमूलक	2 विरति मूलक
श्रृंगार	रौद्र
हास्य	वीभत्स
वीर	करूण
अद्भुत	भयानक

इन दोनों के अतिरिक्त काव्य में एक मिश्रित भाव भी प्रयुक्त होता है उसे शान्त रस कहा जाता है। इसमें रति और विरति दोनों प्रवृत्तियां निहित है। वस्तुतः रस का यह मनोवैज्ञानिक स्वरूप मनस्जगत् के एक विस्तृत स्वभाव की सूचना देता है। सगुण भक्त कवि रसों को मात्र तृप्तिमूलक ही मानते हैं। उनके अनुसार अतृप्ति अभाव का सूचक होकर उनके पूर्ण ब्रह्म का आलोचक गुण है किन्तु यह धारणा सामान्य विश्वास पर आधारित है न कि मस्तिष्क के

उस स्वभाव पर जिससे मनोभावों एवं मनोविकारों का सम्बन्ध है। अतः रस की मूल प्रवृत्ति के विषय मे उनका दृष्टिकोण अपूर्ण है।

(ख) विस्तार :-

यदि विस्तार की दृष्टि से इस रस की तुलना करें तो निश्चित ही इसमें संकीर्णता का दोष मिलेगा। भक्त मस्तिष्क साम्प्रदायिक मस्तिष्क है, जिसकी रचना एक निश्चित वातावरण में निश्चित अभ्यास के द्वारा होती है। भक्ति के साधनों का निरन्तर अनुशीलन उसके फलस्वरूप कृष्णरस की निष्पत्ति, तदनन्तर भक्तिरस का उदय इसकी प्रक्रिया है। भक्ति काव्य में भी सहृदयों की एक विशेष श्रेणी होती है वे एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित होते हैं। इस प्रशिक्षण का महत्त्व कवियों एवं सहृदयो की दृष्टि से क्षेमेन्द्र औचित्य विचार चर्चा ग्रन्थ एवं राजशेखर की काव्यमीमांसा में भलीभांति निरूपित है। किन्तु इसके साथ ही साथ रस स्वभव के संदर्भ में इस सामाजिक का संस्कारीगुण भी स्वीकार किया गया। तात्पर्य यह है कि शिक्षा इस संस्कार को मांजती है। इस शिक्षण के अभाव में भी प्रेक्षक श्रोता, पाठक काव्य रस का स्वाद ले सकते हैं।

(ग) परिभाषा :-

यदि सगुण भक्ति काव्यों में परिभाषा की दृष्टि तुलनात्मक अध्ययन करे तो यह और भी निश्चित हो जाता है कि इनका रस विषयक सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधृत एवम् अनुकृत मात्र है।

रस की परिभाषा[1]:-

मधुसूदन सरस्वती एवम् रूपगोस्वामी की भक्ति विषयक परिभाषाये इस प्रकार हैं-

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से सुखमूलक स्थायीभाव निर्मित होकर रस की व्यंजना करते हैं।' रूपगोस्वामी के अनुसारः- 'विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं संचारी भाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है। यह रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनों से प्रयुक्त होकर भक्त के हृदय में पुष्ट होती है इस प्रकार इसका स्थायीभाव कृष्णरति स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है।

इस प्रकार इन कवियों के साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि ये स्पष्ट रूप से रस सिद्धान्त के पारखी एवम् ज्ञाता थे किन्तु भक्ति एवं काव्यरस के तुलनात्मक दृष्टिकोण का जहां तक सम्बन्ध है, इन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कोई अलगाव नही रखा है। यह सत्य है कि इन्होंने अपनी भक्ति एवं आराध्य विषयक भावना को काव्य में सर्वोपरि स्वीकार किया है और कहीं कहीं स्वयं उनके कथन भी इसके साक्षी हैं किन्तु प्रयोग में उनके काव्य के स्वीकृति भाव जो मानव जीवन के अंग के रूप में सदा से स्वीकृत हो आए हैं उसे नियोजित करने में इन कवियों ने कोई कोर कसर नहीं

---

1. रस की परिभाषा-
तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः
अभिनव भारती, पृ0 442

रख छोड़ी है। सैद्धान्तिक रूप से रूपगोस्वामी ने हास्य, करूण, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत, वीभत्स को गौण भक्ति रस तथा मधुसूदन सरस्वती ने इन्हें संकीर्ण भाव के अन्तर्गत रखा है। किन्तु रूपगोस्वामी ने स्पष्टतः श्रृंगार और शान्त का उल्लेख गौण रस के अन्तगर्बत न करके भक्तिरस में ही किया है। हिन्दी के समस्त मध्यकालीन कवियों ने काव्य के व्यावहारिक स्वरूप के अन्तर्गत यह भेद भी नही स्वीकार किया हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से समस्त रागों को कृष्ण का भाव बताया है। श्रृंगार का शालीनतापूर्वक चित्रण समस्त कवियों में उपलब्ध है। करूण एवं वीर रस के अधिकाधिक भाव सगुण भक्ति साहित्य के अंग है। शान्त एक मात्र इनकी भक्ति और काव्य की मूलवृत्ति के रूप में मिलता है। काव्यों में प्रायः श्रृंगार, करूण, वीर एवं शान्त को प्रधानता मिली है। इन भावों को उत्कर्ष देने एवं वातावरण को पुष्ट करने के लिए हास्य, रौद्र, भयानक, अद्भुत एवं वीभत्स के प्रयोग मिलते हैं। ठीक इसी क्रम का अनुगमन इन कवियों ने भी किया है। रस के सम्बन्ध में उनका सबसे उत्कृष्ट गुण है उसकी पृठिभूमि को उदात्त बनाना। वे जिस भी रस का निरूपण करते हैं एक उदात्त वातावरण में यही उदात्तता उनके स्थायित्व का कारण है।

रसों का अंगांगि सम्बन्ध :-

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस के अंगांगि सम्बन्ध की चर्चा का आरम्भ किसी रस विशेष की महत्ता के प्रतिपादन के लिये हुआ है। आचार्य भरत समस्त रसों में रतिमूलक भावों को प्रधान मानते हैं। रतिमूलक भाव के अन्तर्गत उन्होंने श्रृंगार रस को विशिष्ट

स्थान दिया है। वे इसे उज्ज्वल वेषात्मक एवं समस्त रसों में विशिष्ट मानते हैं। उनके अनुसार अन्य रस श्रृंगार की तुलना में न्यून महत्त्व के है। आचार्य भरत के बाद ध्वनिवाद आचार्यों के प्रयत्न इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने भाव की अनेक श्रेणियाँ बनाकर उसमें रस की स्थिति को और अधिक महत्त्व का स्वीकार किया है। रस से सम्बन्धित अन्य भावों को भाव भावाभास, रसामास, भावशांति एवं भावशबलता की श्रेणी में रखा है।[1] प्रसंगध्वनि के सन्दर्भ में इन्होंने काव्य के मुख्य गौण रस की भी चर्चा की है। आनन्दवर्धन के अनुसार रामायण एवं महाभारत में क्रमशः करूण एवं शांत रस है, इसमें प्रयुक्त अन्य रस गौण है। रामायण की इसी करूणात्मकता को ध्यान में रखकर भवभूति ने उत्तम रामचरित में करूण को अंगी एवम् अन्य रसों को अंग के रूप में स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में एक स्थल पर श्रृंगार को एक मात्र रस मानकर केवल श्रृंगारी कवि की महत्ता स्वीकार की है। ठीक इसी के प्रभाव से भोज ने भी सरस्वती कंठाभरण के आरम्भ में 'श्रृंगारी चेत्कविः' की ही एक मात्र प्रतिष्ठा की है। शान्त रस की स्वीकृति हो जाने के बाद उसी को एक मात्र रस तथा अन्य को उसी से उद्भूत अंग रूप में स्वीकार किया गया। शान्त रस की स्वीकृति के लिए दिये गये अभिनव गुप्त द्वारा तर्क रस के परस्पर अंगांगि सम्बन्ध के स्पष्ट प्रमाण हैं। अभिनव गुप्त के पूर्व नाट्य शास्त्र के शान्तिरस सम्बन्धी प्रक्षिप्त अंश से ही

शान्तिरस की महत्ता का प्रतिपादन आरम्भ हो चुका था। इस सन्दर्भ में ये श्लोक है–

भावविकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः
विकारः प्रकृतेजातः पुनस्तत्रेण लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाध शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये शान्ते एवोपलीयते।।[1]

रत्यादि स्थायीभाव विकार रूप है और शान्तरस प्रकृति रूप। विकार प्रकृति के उत्पन्न होते हैं और उसी में समाहित हो जाते है।

अपने अपने निमित्तों में प्राप्त होने पर शान्त रस से ही भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर पुनः शान्तरस में लीन हो जाते हैं।

"ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मो से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्तरस का स्थायीभाव है। इस शान्तरस के एकमात्र रसत्व का प्रतिपादन भक्ति के अनेक ग्रन्थों में होता है।"[2] हरिहर प्रणीत भर्तृहरिनिर्वेध में शान्त को परम विश्रान्तिमय मानते हुए उन्होने कहा है–

अस्त्येव क्षणिको रसप्रतियत्न पर्यन्त वैरस्यभू।
ब्रह्माद्वैत सुखात्मकः परम विश्रान्तो हि शान्तो रसः।।[3]

आचार्य शंकर ने सौन्दर्य लहरी में इस भक्ति को एकमात्र प्रतिनिध एवं श्रृंगार का विद्रावक तत्त्व स्वीकार किया है। ठीक इसी के समानान्तर साहित्यदर्पण में श्री नारायण भट्ट के मत का उल्लेख है। नारायण भट्ट के अनुसार समस्त रसों में अद्‌भुत रस ही अंगीरस है, शेष अन्य अंग रस।

आलंकारिक आचार्यो की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि उनके समक्ष अंग और अंगिरस की विशेष चर्चा नहीं थी। इनके समक्ष समस्या गौणता एवम् प्रमुखता की थी। अंगांगिरस का विवेचन वस्तुतः सगुण आचार्यो द्वारा ही अधिक किया गया है। क्योंकि उनके समक्ष अंगांगिरसों के विवेचन की भी एक प्रमुख समस्या उठ खड़ी हुई। काव्य रस की भांति भक्तिरस की परिकल्पना के उपरान्त उससे इसका सम्बन्ध स्थापित करने की इनके सम्मुख अनिवार्यता खड़ी हुई। उनके अनुसार भक्तिरस एवं काव्यरस स्वभावतः भिन्न थे। चूंकि उनके भक्ति की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हुई थी। अतः वे काव्य एवं भक्ति दोनों में स्वीकृत रससिद्धान्तों में परस्पर संगति बैठाने के प्रति सचेष्ट हुए। इनके अनुसार भक्तिरस प्रमुख एवं काव्यरस गौण है। वे भक्तिरस को अंगि एवं काव्यरस को अंगरस स्वीकार करते हैं। वे दोनों प्रायः उनकी परस्पर अन्योन्याश्रिता की ओर अधिक सचेष्ट हैं। इसी को सिद्ध करने के लिए मधुसूदन सरस्वती एवम् रूपगोस्वामी ने विशेष प्रयत्न किये, उनके मत इस प्रकार हैः-

भक्त आचार्यो द्वारा अंगांगि सम्बन्ध के विषय में मतः-

मधुसूदन सरस्वती :-

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस ही प्रमुख है उन्होंने इसे श्रृंगार रस से सहस्र गुण विस्तृत स्वीकार किया है।[1] इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने काव्यशास्त्रियों के भक्तिरस विषयक उस मत का खण्डन किया, जिसमें देवादि विषयक रति को दोष या संचारी भाव के अन्तर्गत रखा गया था। उन्होंने उसके प्रत्युत्तर में कहा कि यह देवादि विषयक रति वस्तुतः इन्द्रादि देवताओं के लिए है न कि भगवत आनन्द के लिए। इस आनन्द की समता में उन्होंने कान्तादिरति से निष्पन्न श्रृंगार के आस्वाद को आदित्य के सम्मुख खद्योत प्रकार के सदृश क्षुद्र बताया।

भक्ति रस की व्याख्या करते हुए इससे सम्बन्धित उन्होने तीन प्रकार के रतिभाव को ही स्वीकार किया है; वे है-

1. विशुद्ध भक्तिरति
2. वत्सल भक्तिरति
3. प्रेयो भक्तिरति

इन तीनों रति में से क्रमशः विशुद्ध, वत्सल एवं प्रयोभक्ति से रस की निष्पत्ति होती है। इस विशुद्ध भक्तिरति में जब अन्य रति मिश्रित हो जाते हैं तो इन्हें मिश्रित रति कहते हैं। रसायन कार के अनुसार भक्तिरस में श्रृंगार रस मिश्रित होकर उसे बलवन्तर बना देता है। इसीलिए मिश्रितभाव न्यूनतीव्र, शुद्ध भक्तिरस तीव्र एवं

---

1. इहानुभव सिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रसः जडैनेव त्वया कस्मादकस्मादपत्वप्यते, उल्लास 2.78

श्रृंगार रति मिश्रित भक्तिरस तीव्रतर हो जाता है।[1] उन्होंने सम्पूर्ण रस विषयक भावों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया है–

1. संकीर्णभाव, 2. शुद्धभाव, 3. संकीर्णमिश्रित, 4. केवलमिश्रित

उनके अनुसार भाव केवल दो ही हैं– संकीर्ण एवम् शुद्ध। संकीर्ण मिश्रित एवम् केवल मिश्रित परस्पर इन्हीं दोनों के संयोग से बनते हैं। संकीर्ण भावों के अन्तर्गत उन्होर्ने रौद्र, भयानक, धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स एवं शान्त को रखा है। शेष अन्य काव्यरस मिलकर संकीर्ण मिश्रित हो जाते हैं। इनमें काव्य के समस्त रस श्रृंगार करूण, हास्य, भयानक, अद्‌भुत, वीभत्स, वीर, रौद्र और शान्त एवं प्रीतिभाव हैं। यही संकीर्ण मिश्रित एक मात्र भगवद् आलम्बन से सम्बद्ध हो जाते हैं। तब उनकी संकीर्णता समाप्त हो जाती है, और वे केवल मिश्रित रस रह जाते हैं।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस मुख्य है। काव्यरस संकीर्ण भाव होने के कारण भक्तिरस का अंग है तथा काव्य के अन्य तत्व भक्तिरस का पोषण मात्र करते हैं।

रूप गोस्वामी :–

रूप गोस्वामी के अनुसार शान्त का स्वभाव राग प्रधान एवम् सुखमूलक है। प्रीतिभक्ति भक्तों के हृदय में उत्पन्न होने वाला शुद्ध आनन्द है।[2]

---

1. भक्ति रसायन उलास 2:34 से 36 तक
2. पश्चिम विभाग, प्रीति भक्ति लहरी,, 2 से 4 तक

इस प्रीति भक्त का उन्होंने तीन क्रम निर्दिष्ट किया है। सर्वप्रथम भगवत् व्यसन से प्रेम उत्पन्न होता है। यह प्रेम निरन्तर अभ्यास से सान्द्र होकर चित्त को द्रवित करता रहता है। इस मानसिक द्रवता को ही स्नेह की संज्ञा प्राप्त होती है। इसकी अधिकता होने पर सुख दुःख का बोध नही होता। इस स्थिति के आगे यह प्रेम राग बना जाता हैं। इसी राग के कारण ही यह प्रीतिरति आनन्दमूलक होती है।[1] इस प्रेयोभक्ति रस को उन्होंने रतिजन्म आनन्द कहा है। वत्सल भक्ति रस मे चित्त की सान्द्रता विशेष प्रकार की हो जाती है। प्रेयोभक्तिरति तक प्रायः इसकी आश्रय एवम् विषय की निकटता दूर रहती है। इसीलिए उनके अनुसार अंतिम एवं सर्वोत्कृष्ट रति मधुर है।[2] इसमें भक्त आराध्य के निकटतम् सम्बन्ध का अधिकारी होता है। यही कारण है कि रूपगोस्वामी इसे रसराट् या उज्ज्वलरस की संज्ञा देते है।

भक्तिरस की व्याख्या के अनन्तर उन्होने काव्य के शेष सात रसों को भी लिया है। वे क्रमशः हास्य, अद्भुत, वीर, करूण, रौद्र, भयानक, वीभत्स है। इनके अंगत्व का क्रम इस प्रकार है-

1. हास्य भक्तिरस- भक्तों के कृष्णालम्बन की दृष्टि से हास्यादि चेष्टाओं से हास्य रस की निष्पत्ति होती है। चूंकि आलम्बन कृष्ण हैं और आश्रय भक्त। अतः उनसे निष्पन्न यह हास्य भक्तिरस होगा, शुद्ध काव्य रस नही।

---

1. पश्चिम विभाग, प्रीतिभक्ति लहरी, 43, 44, 45
2. मुख्य भक्तिरस निरूपणे, मधुराख्य भक्ति रस लहरी, श्लोक 1, 3

2. **अद्‌भुत भक्तिरस :-** भक्त विस्मय का आश्रय ग्रहण कर तथा कृष्ण को आलम्बन मानकर जिस लोकोत्तर हेतु-क्रिया का अनुभव करने लगता है, वह अद्‌भुत भक्तिरस होता है।

3. **करूण भक्तिरस :-** शोक रति से निष्पन्न ग्लानि आदि विभावों से पुष्ट भक्तों में करूण भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।

4. **रौद्र भक्तिरस :-** क्रोधरति से पुष्ट एवं एतद्‌सम्बन्धी अन्य विभावों से निस्तेज नियोजित भक्तों के उत्पन्न एतद् विषयक रस रौद्र भक्तिरस होता है।

5. **भयानक भक्तिरस :-** भय रति से पुष्ट एवं उसमें कथित अन्य विभावों से निष्पन्न भयानक भक्तिरस हो जाती है।

6. **वीभत्स भक्तिरस :-** आत्मोचित विभावों से उत्पन्न जुगुप्सा रति अन्ततः अतिरागता की प्रतिक्रिया में वीभत्स हो जाती है।

7. **वीर भक्तिरस :-** भक्तों में कृष्ण भक्ति विषयक उत्साह रति से निष्पन्न वीर भक्तिरस होता है।

रूप गोस्वामी इस निरूपण में न तो उचित रूप से स्थायी भावों का नियोजन कर सके और न रसोत्पत्ति की प्रक्रिया की व्याख्या ही। फिर भी, उनकी इस धारणा में सत्यता अवश्य वर्तमान है कि भक्तिकाव्य में प्रयुक्त शुद्धकाव्य के भाव स्वतन्त्र या अंगी नही है। वे प्रत्येक दशा में भक्तिविषयक भाव के अंग ही हैं।

कविकर्णपूर गोस्वामी :-

रसों के अंगांगि निरूपण का तीसरा मत कविकर्णपूर गोस्वामी का है। इनका दृष्टिकोण पूर्णतः आलंकारिकों का है किन्तु

उन्होंने भक्तिरस को भी स्वीकार किया है। उनका विचार है कि, रस मस्तिष्क की सात्त्विक दशा से निष्पन्न भाव बोध है। यह स्थिति रजस् एवं तमस् से भिन्न अनुभवैक्यगम्य आनन्दरूप है। इस आनन्दरूपता का नाम उन्होंने प्रेम दिया है।[1] मन की आनन्दमयी स्थिति से अनेक रस उद्‌भूत हुए हैं, जिस प्रकार स्फटिक जवाकुसुम आदि के संसर्ग से अनेक रंगों में परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार आनन्द तम एवं रजस् अनेक स्थायीरूप धर्म नानाविध विभावादि के संसर्ग से उत्साह, विस्मय तथा शोक आदि भावों में परिवर्तित होता रहता है। यही भाव रस की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

निष्कर्षतः कविकर्णपूर गोस्वामी के अनुसार काव्यरस, भक्तिरस दोनों अपनी मूलप्रकृति में प्रेम के अंग है तथा प्रेमरस इनका अंगी है। इस प्रकार इनकी धारणा मधुसूदन सरस्वती और रूपगोस्वामी से पूर्णतः भिन्न है।

सगुण भक्त कवि तथा रस का अंगांगि सम्बन्ध-

भक्त आचार्यो के भक्ति विषयक उन्मेष एवं शास्त्रीय पद्धति दोनों दृष्टियों से भक्तिरस के अंगित्त्व का निरूपण किया है जहां तक भक्त कवियों का प्रश्न है, वे भक्ति रस के समर्थन की ओर ही अधिक सजग है। इन कवियों में तुलसीदास और नन्ददास का नाम

---

1. आस्वदांकुर कन्दोऽस्ति धर्मकश्चन चेतसः
रससतमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्वतथा सतः
स स्थायी कथ्यते विज्ञैः विभावस्य पृथकतया
पृथक्निवधत्वं यात्येव सामाजिकतया सताम्
अलंकार कौस्तुभ, पंचम किरण, पृ0 5, 9

विशेष उल्लेखनीय है। तुलसी राम के उदात्त व्यक्तित्त्व में काव्य के समस्त भावों को समाहित मानते हैं। प्रश्न उठता है कि इस उदात्त व्यक्तित्त्व का भाव क्या है?[1] सगुण भक्त कवियों की ही शब्दावली इसे उदात्त रस भी कह सकते है क्योंकि उनके द्वारा निरूपित यह व्यक्तित्त्व विचित्र एवं ओजपूर्ण उदात्तता से समन्वित है। उनके अनुसार भागवत रूप समस्त रसों एवं भावों का आश्रय तत्त्व है, इसी की ओर संकेत करके तुलसी ने बालकाण्ड में इस प्रकार धारणा व्यक्त की है।

जिन्ह के रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।।
देखहिं भूप महारन धीरा । मनहुँ वीर रस धरे शरीरा।।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।।
नारि विलोकत हरिहिं हिय, निज निज रूचि अनुरूप
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।
विदुषन्ह प्रभु विराट मय दीसा। बहु मखु कर पग लोचन सीसा।।
सहित विदेह विलोकहिं नारी। सिसु सम प्रीति न जाय बरवानी।।
जोगिन्ह परम तत्त्व मय भासा। सान्त शुद्ध सम सहज प्रकासाा।।[2]

इस प्रकार 9 रसों के अतिरिक्त स्नेह, रति आदि मुख्य भावों की भी व्यंजना यहां निहित है। शास्त्रीय शब्दावली में यदि कहें तो कह सकते है कि राम आलम्बन के विभिन्न सामाजिक रूप कुटिल नृप, नारी, विदेह तथा उनकी रानी योगी अपने अपने स्वभाव के अनुसार उनके उदात्त व्यक्तित्त्व में भिन्न भिन्न प्रकार से रसभावन

---

1. अलंकार कौस्तुभ, पृ0 80
2. राम चरित मानस, बालकाण्ड, दोहा सं0 241 तथा 242

करते हैं। वैसे तुलसी ने काव्य के नव रस को अधिक महत्ता न देकर मानस को चारू तड़ाग का जलचर कहा है। कंस के यज्ञ में मंच के ऊपर उपस्थित कृष्ण के विषय में इसी भाव का श्लोक भागवत में भी मिलता है।

नन्ददास ने भी रासपंचाध्यायी, रसमञ्जरी एवं सिद्धान्तपंचाध्यायी में कृष्णरस को ही प्रमुख माना है। पंचाध्यायी में उन्होंने रासरस को समस्त रसों का सारतत्त्व बताया है। उन्होंने अनेक स्थलों पर लीलारस को श्रृंगाररस से पृथक रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्तिरस की तुलना में यह श्रृंगार गौण महत्त्वहीन एवं निःसत्त्व है।[1] वे कहते हैं कि जो पंडित इन ग्रन्थों में श्रृंगाररस स्वीकार करते है, वे कृष्णलीला को इहलौकिक एवं कृष्ण को सामान्य पुरूष स्वीकार करते हैं, किन्तु कृष्ण लौकिक विषयी से नितान्त भिन्न है क्योंकि लौकिक विषयी भोक्ता है। कृष्ण अलौकिक व्यक्तित्त्व के कारण भोक्ता भी होकर उससे असंपृक्त हैं अतः उन्हें विषयी स्वीकार किया ही नही जा सकता। रसमञ्जरी में श्रीकृष्ण को समस्त रसों का आदि कारण कहकर पुकारा गया है। उनके विचार से लौकिक रस कृष्ण से ही अभिव्यक्ति होते हैं। इसके लिये वह निम्न तर्क देता है-

है जो कछु रस इहिं संसार। ताकहुं प्रभु तुमही आधार।
ज्यें अनेक सरिता जल बहै। आनि सवै सागर में रहै।
जग में कोउ कवि बरनो काहीं। सौ जसु रसु सब तुम्हरे आहीं।
ज्यों जलधर तें जलधर जलतें। बरसे हरषि आपने कलतें।
अगिन ते अगनित दीपक बरैं। तुम तें हैं तुमही करि सोहैं।
रूप प्रेम आनन्दरस, जो कछ जग में आहि।
सो सब गिरिधर देवको, निधरक बरनो ताहिं।[2]

इस उद्धरण में नन्ददास ने रसों के अंगांगि के सम्बन्ध को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। सरिता और समुद्र सम्बन्ध, जल–जलधर सम्बन्ध, अग्नि–दीपक सम्बन्ध। वस्तुतः समस्त सगुण भक्त कवि अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार भक्तिजन्य रस को प्रमखु एवम् अभिव्यक्तजन्य रस को गौण स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि काव्यरस एवम् भक्तिरस में कतिपय उपभनिष्ठ तत्त्वों वर्तमान हैं किन्तु मूलतः दोनों दो पृथक प्रेरणाओं से प्रेरित होने के कारण अपनी प्रकृति में ही भिन्न है।

अंगांगि सम्बन्ध और भक्तिरस :-

अंगांगि सम्बनध के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भक्तिरस प्रमुख है या गौण या दूसरे शब्दों में सगुण आचार्यो द्वारा प्रतिपादित भक्तिरस की महत्ता में कितना बल है। इन आचार्यो ने भक्तिरस की प्रमुखता के लिए स्थूलतः निम्न तर्क दिये है–

1. काव्यरस के भाव संकीर्ण तथा भक्तिरस के भाव शुद्ध भाव है। इस दृष्टि से भक्तिरस के भाव प्रमुख हैं। इनके आश्रित होने के कारण काव्य रस के भाव पवित्र हो जाते हैं।
2. भक्ति के आलम्बन कृष्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म विषयक आसक्ति अलौकिक है, सामान्य काव्य में वर्णित आलम्बन लौकिक हैं अतः अलौकिक आलम्बन से सम्बन्धित रस लौकिक है। इस प्रकार अलौकिक भक्तिरस लौकिक काव्यरस से तीव्र उत्कट एवम अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होगा।

3. ब्रह्म का स्वभाव आनन्दमूलक है और उपनिषदों में इसे 'रसो वैसः' कहा गया है। काव्य रस लौकिक है। अतः लौकिक विषयों से उत्पन्न रस ब्रह्मानन्द का उच्छलन मात्र है।

संक्षेप में भक्तों द्वारा दिये गये यही तीन मत भक्तिरस की प्रमुखता को सिद्ध करने क लिये पर्याप्त समझे जाते हैं।

किन्तु काव्य दृष्टि से इनका अनुशीलन करने पर इससे सम्बन्धित तथ्य इसके विपरीत ही ठहरते हैं।

काव्यरस के भाव इन कवियों द्वारा संकीर्ण कहे गये हैं रस भाव या मनोविकारों की एक मर्यादित स्थिति है, जिसका बोध मानव मस्तिष्क को होता है। इनके अनुसार भक्ति के भाव इसलिए प्रमुख हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध आत्मा से है। किन्तु आज का मनोवैज्ञानिक भाव प्रक्रिया को मानसिक अंग से पृथक और कुछ स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। भावों एवम् मनोविकारों की स्थिति मानव मन की अनिवार्य समस्या है एवम् मनुष्य के चेष्टाओं की आधारभूतता उन्हीं पर निस्सृत है। भक्ति के भाव अभ्यास जन्य व्यवहार पर आवृत कृत्रिम भावों की कोटि में रखे जा सकते हैं। मानव सहज प्रवृत्तियों का दमन, शोधन, परिष्करण के उपरान्त उनका नैतिकीकरण करता है। भक्त भूख, काम, युयुत्सा, हास्य आदि को एक ओर दमित करते हैं, दूसरी ओर दैन्य, भय आदि मूलवृत्तियों का शोधन। इसीलिए प्रायः भक्तिरति की उत्पत्ति के लिए मधुसूदन सरस्वती, वल्लभ, रूपगोस्वामी सभी एक निश्चित प्रक्रिया का आधार आवश्यक बताते हैं। रस की एक स्थिति विशेष में भी भावों को

मर्यादित किया गया है, किन्त नीति के माध्यम से। ग्राम्यत्त्व, अश्लीलत्व दोष इसी से सम्बद्ध है किन्तु ये रस प्रवृत्ति को शालीन बनाते है। जब इनकी शालीनता में नैतिकता का आग्रह अधिक हो जाता है तो रसबोध के व्याधातक तत्त्व खड़े हो जाते हैं। अतः मानव–मस्तिष्क की स्वाभाविकता भक्तिरस में न होकर मात्र रस में है। इस प्रकार काव्यरस के भाव ही शुद्ध है, भक्तिरस के नही।

दूसरी तथा तीसरी धारणा का हल इसी तर्क से हो जाता है। भक्ति के आलम्बन अलौकिक हैं, किन्तु इस अलौकिक के सामान्य बोध के लिए इसे लौकिक एवं इन्द्रिगम्य होना आवश्यक है। अतः रससत्ता बोध की स्थिति में रसकी प्रतीति लौकिक ही होगी, अलौकिक नही। इसीलिए भक्ति आन्दोलन में अलौकिक ब्रह्म को लौकिक बनकर जगत में आना पड़ा है। ठीक उसी लौकिक सन्दर्भ में ही दास्य, संख्य, प्रीति, मधुर की अनुभूति होती है। अतः यह कहना कि अलौकिक आलम्बन उसी प्रकार है, जैसे बन्ध्या पुत्र या आकास कुसुम। आलम्बन के लिए लौकिकता अनिवार्य है।

तीसरी समस्या इनके उत्कट आनन्दाभूति की है। प्रायः वे उसे परम आनन्दमय स्वीकार करते हैं तथा उसकी अनुभूति की तुलना में वासनाजन्य श्रृंगार को सूर्य के सम्मुख खद्योत प्रकाश की भांति तुच्छ बतलाते हैं। किन्तु जब न भावग्रहाक मस्तिष्क के संस्थान अलौकिक है और न इन्द्रिय के प्रत्यक्ष विषय ही, फिर अनुभूति की अलौकिकता भी संभव नही है। वस्तुतः इस प्रकार की अनुभूति की दो स्थिति है–

प्रथम यह कि भक्त भक्तिकाव्य के माध्यम से एक सामान्य पृष्ठिभूमि से भिन्न विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार उदात्त काव्य की पृष्ठिभूमि में भावों का ग्राहक मन उससे भिन्न वातावरण में निर्मित काव्य से अलगाव का अन्तरबोध करता है, ठीक उसी प्रकार भक्ति काव्य का वातावरण अन्य वातावरण के अलगाव की सूचना भी मस्तिष्क को देता है।

दूसरी स्थिति में भावों के ग्राहक मन की भी एक विशिष्ट दशा हो जाती है। वह अभ्यास के माध्यम से समस्त भावों का एकीकरण ईश्वरोंन्मुख रति में कर लेते हैं। जब इश्वरोन्मुख रति से प्रभावित मस्तिष्क उस विशिष्ट वातावरण में अपने ग्राहक तत्त्वों से भावबोध की स्थिति में पहुँचता है तो उसे उसकी अनुभूति उत्कट प्रतीत होने लगती है। रहस्यवादियों में यह मस्तिष्क एवम् वातावरण कुछ भिन्न कोटि का होने के कारण उनकी अनुभूति को एन्द्रजालिक बना देता है।

यही कारण है कि इन कवियों की उत्कट अनुभूति के लिए नास्तिकों के पास स्थान नहीं है। भक्ति कवि एवम् आचार्य भक्ति के क्षेत्र में शंका को गर्हित मानकर मात्र अंधश्रद्धा को उसके लिए अति आवश्यक बतातें है। सती का प्रायश्चित एवं भुशुण्डि का कागयोनि शंका एवं वितर्कणा का ही प्रतिफल है।

इस प्रकार सिद्ध है कि भक्तिरस की अनुभूति शुद्ध अलौकिक न होकर अलौकिक का आभासमात्र है।

2. लोक मंगल एवम् नैतिक हितवाद का सन्दर्भ :–

हिन्दी सगुण भक्ति साहित्यः वैयक्तिक मंगल के मूल्य :–

वैयक्तिक अतृप्ति, जो चेतन रूप से काव्य को प्रभावित करती है, आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार काव्य का मूल कारण है। यह तृप्ति सुख एवं दुःख से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है। इस प्रकार यह वृत्ति मंगल का मूल्य न होकर कवि कर्म या स्वभाव का अंग है किन्तु हिन्दी के सगुण भक्त कवियों ने जो मूल्य बताये है, उनमें आत्मरक्षा की भावना अधिक है। भौतिक स्तर पर यह आत्मरक्षा शारीरिक बचाव से सम्बद्ध है किन्तु यह परिष्कृत होकर शारीरिक रक्षा से ऊँचे उठकर आध्यात्मिक सुरक्षा तक पहुंच जाता है। आत्मशोध, धार्मिक वृत्ति का उदय, मोक्ष एवम् भक्तिकी प्राप्ति, आध्यात्मिक सुरक्षा से ही सम्बन्धित है। हिन्दी के सगुण भक्त कवि वैयक्तिक उद्देश्यों के अन्तर्गत इन्हीं मूल्यों की चर्चा करते हैं। जहां तक काव्य-रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध है आत्मशोध, धार्मिक वृत्ति एवं मोक्ष तथा भक्ति इसके अंग हो सकते हैं। इसमें आत्मशोध, धार्मिक वृत्ति एवं मोक्ष विराग-प्रधान है। काव्य की शालीन प्रवृत्तियां उत्तेजक होती हैं। इनके द्वारा उत्तेजक प्रवृत्तियों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ अन्ततः मनोवेगों की तृप्ति एवं उत्तेजन में, सहयोगी न होकर शममूलक तथा शान्तिदायिनी होती हैं। वैयक्तिक मूल्यों की अन्तिम स्थिति भी यही है। हिन्दी के सगुण भक्त कवि प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में इन वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक रहे हैं। इन मूल्यों पर पृथक पृथक विचार करना आवश्यक है।

वैयक्तिक मूल्य :-

आत्मशोध ये मूल्य मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्म सुरक्षा से सम्बद्ध हैं। आत्मरक्षा की मनोवृत्ति अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक ओर शोधक इष्ट (ईश्वर जिसे पतितों के उद्धारकर्ता की संज्ञा मिली है) की शक्ति सम्पन्नता के निरूपण से सम्बद्ध है दूसरी ओर रचनाकार द्वारा कथित उसकी हीनता वृत्ति से। यह वैयक्तिक हीनता काव्य की मनोवृत्ति हो सकती है। हिन्दी का छायाकारी काव्य इसी हीनता की भावना से पुष्ट है। आधुनिक छायावादी काव्य की हीनता उद्योगीकरण, विज्ञान का प्रभाव, कौटुम्बिक एकता की छिन्नता, धर्म के प्रति अनास्था बौद्धिकता के आगमन आदि से सम्बन्धित है। सगुण भक्त कवियों के सम्मुख ये कारण नहीं थे। कुछ तो परम्परागत काराण थे, कुछ तत्कालीन सामाजिक, कुल मिलाकर ये राजनीतिक धर्म-निरपेक्ष राज्य सत्ता के व्यवहार से त्रस्त, सामाजिक अनाचार एवं भ्रष्टाचार से पीड़ित मोक्षवादी धार्मिक विचारधारा के संस्थापन आदि से प्रेरित थे। आधुनिक काव्य की हीनता विषयक मनोवृत्ति धर्म-निरपेक्ष होने के कारण आस्था हीन तथा त्रिशुंक की भांति आधारहीन है, किन्तु सगुण भक्त कवियों की आत्महीनता सोद्देश्य थी। आत्मतोष, आत्मकृति, मोक्ष भवसागर से संस्तरण आदि कितनी भाववादी वृत्तियां इस आत्मशोध में निहित उनकी आत्महीनता में घुली मिली हैं।

आत्मरक्षा :-

आत्मरक्षा भौतिक स्तर पर न होकर पारमार्थिक स्तर पर है। अतः उसे आध्यात्मिक सुरक्षा के नाम से पुकारा जा सकता है।

रहस्यवादी काव्य का बोध आध्यात्मिक तो है किन्तु वह या तो उद्देश्य हीन है या व्यक्ति निष्ठ आनन्दमूलक अनुभूति पर आश्रित, किन्तु भक्ति काव्य आध्यात्मिक सुरक्षा को अपने काव्य का मूल आधार बताता है। इस आध्यात्मिक सुरक्षा के अन्तर्गत भक्ति मोक्ष, आनन्द की प्राप्ति त्रिदोषों का विनाश, कलिमल शमन आते हैं। आध्यात्मिक सुरक्षा को मूलाधार बनाकर उच्च कोटि का साहित्य नही प्रतीत हो सकता है। इसमें उपदेशात्मकता आदि की प्रवृत्तियों प्रमुख हो जाती है।

भौतिक पलायन :-

इसका सम्बनध भी आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से है। भारतीय परम्परा में भौतिक आसक्ति को हेय समझा जाता रहा है। इसके मूल में आध्यात्मिक सुरक्षा ही थी। फलतः इसे आदर्शोन्मुख पलायन कहा जा सकता है। इस भौतिक पलायन के माध्यम से ये कवि सामाजिक, नैतिक शुभ एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समर्थन करते दिखायी देते हैं। फलतः यह भौतिक पलायन उनके लिए अवरोधक तत्त्व न होकर सर्जक तत्त्व है।

इन भक्त कवियों के समस्त काव्य मूल्य आत्मशोध, आत्मरक्षा एवं भौतिक पलायन से ही सम्बन्धित है। धार्मिक वृत्ति का उदय, भक्ति की प्राप्ति मोक्ष एवम् भक्ति की स्वीकृति, यथामति ज्ञान इनकी इसी मनोवृत्ति की सूचक है। ये निश्चित ही एक ओर काव्य मूल्य हैं दूसरी ओर धार्मिक मूल्य भी। इसमें आध्यात्मिक सुरक्षा की वृत्ति सम्भवतया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हीनता एवम् पलायन इनके

अंगमात्र हैं। किन्तु इस हीनता एवम् पलायन के पीछे अवरोधक भावनाएं नही हैं, अपितु, इनमें परिष्कृत व्यक्तित्त्व के तत्त्व निहित हैं।

सामाजिक मूल्य :-

सामाजिक मूल्यों में इन कवियों ने लोकमंगल, चतुर्थ पुरूषार्थो की प्राप्ति, कलिमल शमन, भक्ति की स्थापना एवं धार्मिकता के लोकव्यापी प्रचार को लिया है। यह मंगल का मूल्य जातिविहीन मात्र धर्म-सापेक्ष्य है। भारतीय शब्दावली में इसे हितवाद भी कहा जा सकता है। आचार्य राम चन्द्र शक्ल ने इसके लिए लोकमंगल का नाम सुझाया है। फलतः इनके काव्य में निहित सामाजिक मूल्यों को हितवाद या लोक मंगलवाद कहा जा सकता है। हिन्दी के सगुण भक्त कवियों ने अपने मंगलवाद के ही कारण भारतीय काव्य परम्परा में अपना अमिट स्थान बना लिया है।

वैयक्तिक मंगलवाद की प्रेरणा :-

वैयक्तिक मूल्यों के अन्तर्गत यह सिद्ध किया जा चुका है इनमें हीनता की वृत्ति मिलती है। इस हीनता की पीछे भौतिक अनासक्ति, विराग तथा भक्ति प्रेरणा का कार्य करती है। इसका अधिकाधिक सम्बन्ध सामाजिक निर्माण से है। दूसरा मूल्य भौतिक समाज से पलायन का है। ये भौतिक उपासना को छोड़कर नैतिक उपासना की प्रतिष्ठा चाहते हैं इस भौतिक पलायन के पीछे सामाजिक एवम् धार्मिक हित की भावना निहित है। यह मूल्यवृत्ति सामाजिकता की है। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से कहा जा सकता है। हिन्दी के सगुण भक्त कवि समाजिकात की मनस्वृत्ति से प्रभावित हैं। समाज की यह

संरक्षा वृत्त शुभ की वृत्ति है। काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य से है; सामाजिक रचना शक्ति को काव्य स्रजन का आधार बनाकर ये कवि शुभ एवम् सौन्दर्य में अपना सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। शेष सामाजिक मूल्यों की प्रेरणा वैयक्तिकता से ही सम्बद्ध है।

3. सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा :-

भक्ति का परम्परा (सगुण भक्ति काव्य के सौदर्न्य शास्त्रीय परिवेश में)

मध्य काल के पूर्व सगुण भक्ति का स्वरूप प्रेममूलक न होकर आचार मूलक था। सगुण भक्ति के प्रारम्भिक आगम, संहिता एवम् वैखानस साहित्य कर्मकाण्ड प्रधान है। इस कर्मकाण्ड के बाद सगुण भक्ति के अन्तर्गत शममूलक मनोवृत्ति का विकास हुआ है। महाभारत के शान्ति पर्व तथा गीता में निर्दिष्ट भक्ति के सिद्धान्त प्रेममूलक न होकर शममूलक है किन्तु इसमें कहीं-कहीं प्रेमाशक्ति के तथ्यों की ओर संकेत अवश्य मिलता है। एक स्थल पर अर्जुन की तत्त्वश्रवणलालसा की उत्कृष्टता का संकेत करता हुआ रचनाकार कहता है-

"भूयो कथय तृप्तिर्हि श्रृणवतो नास्ति मेऽमृतम्"

अर्जुन की तत्त्व ज्ञान के प्रति तृप्तिकर लालसा प्रेमासक्ति से ही प्रभावित है। गीता की भक्ति योगांग के रूप में है। आगे चलकर इसी भक्ति योग का विकास एक दूसरे रूप में अद्वैतवादियों में हुआ।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार भक्ति के द्वारा

---

1. भागवत 7:5:23

परानन्द की मानसिक भूमिका की प्राप्ति सहज सम्भव है। शैवागम में जिसे मधुमती भूमिका कहते है, वह निर्विकल्पक आनन्द की एक मानसिक अवधारणा है। शुद्ध भक्ति के अन्तर्गत भी इन आनन्द मूलक मनोदशाओं का उल्लेख है, किन्तु योग तथा शुद्ध भक्ति की भूमिका की प्रक्रियाओं में अन्तर है। मध्यकालीन आसक्ति मूलक भक्ति एषणाओं के बीच अलौकिक राग सम्बन्धों से पुष्ट है, जब कि योगमूलक भक्ति इससे दूर है। भक्ति से आनन्द तक पहुंचने के लिए प्रेम की अनेक भूमिकाओं का उल्लेख अनेक भक्ति ग्रन्थों में मिलता है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु में इस सन्दर्भ में इन भूमिकाओं का उल्लेख है,[1]

'श्रद्धा साधुसंग, भजन, निवृत्ति, निष्ठा, रूचि, आसक्ति प्रेम'

श्रद्धा की अंतिम परिणति प्रेम में होती है भक्त कवियों ने प्रेम को भक्ति की अन्तिम कसौटी निर्धारित की है। भागवत में भी इस भक्ति का उल्लेख है। इसके अनुसार श्रवण, मनन कीर्तन एवम् आराधन से निरन्तर आसक्ति वृद्धि होती है और यही आसक्ति अन्त में तीव्र भागवत प्रेम में परिणत हो जाती है।[2] भक्ति रसायन के अनुसार भक्ति का अंतिम साध्य परानन्द है। इस परानन्द की भूमिका इस प्रकार है-

महतो की सेवा, उनकी दया तथा पात्रता, उनके धर्म में श्रद्धा, हरिगुण श्रुति, रत्यं कुरोत्पत्ति, स्वरूपाधिगति प्रेम बुद्धि परानन्द।[3] -

---

1. हरिभक्त रसामृत सिन्धु, पूर्व विभाग, प्रेम भक्ति लहरी, 4, श्लोक सं0 5,10
2. भागवत स्कन्ध 1 अध्याय 2, श्लोक 11,15
3. भक्ति रसायन, प्रथमोल्लसा, श्लोक संख्या 33 से 36

तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर भक्ति सम्बन्धी भूमिकाओं का उल्लेख किया है- शबरी के प्रसंग में कथित भक्ति के साधनों का उल्लेख पूर्णतः अध्यात्म रामायण अनुमोदित है। अध्यात्मरामायण में कथित भक्ति के साधन कर्मकाण्ड के अधिक समीप है। इसमें मानसिक असक्तियों के लिए विशेष स्थान नही है, किन्तु तुलसी की भक्ति इससे पृथक प्रेममूलक भी है। सूर ने भी प्रेम भक्ति की विलक्षण भूमिका सूरसागर में प्रस्तुत की है।

मध्यकालीन भक्ति सम्बन्धी धारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भक्ति सूत्रों का आधार लेना आवश्यक है। सूत्र गन्थों का प्रतिपाद्य प्रेममूला भक्ति ही है। शांडिल्य भक्तिसूत्र में भक्त के लिए आनन्द और मुक्ति दो उद्देश्य बतलाए गये हैं। यह आनन्द ब्रह्मानन्द है, जिसे मधुसूदन सरस्वती ने परमानन्द की संज्ञा दी है।

वस्तुतः प्रेममूला भक्ति का विकास पुराणों के विशिष्ट योग से हुआ है। मध्यकालीन प्रेममूला भक्ति का आन्दोलन इतना विस्तृत था कि परम्परा से चले आते हुए अन्य मोक्ष मार्ग इसी में समाहित हो गये। यही कारण है कि भक्ति के इन सूत्रों में ज्ञान, योग, कर्म आदि को गौण महत्त्व दिया गया। इसी सन्दर्भ में आचरण मूलक भक्ति के साधनों को साधन मात्र मानकर उसे स्वात्मसमर्पण से हेय समझा गया। गीता[1] के भक्तियोग में कृष्ण ने भक्ति के निम्न साधनों का उल्लेख किया है- श्रद्धा, संयम, दयालुता, ममता एवं अहंकार का त्याग, समर्पण, समव्यवहारशीलता, स्थिरबुद्धि।[2]

---

1. शांडिल्य भक्ति सूत्र, अ0 2, सूत्र 65-68 तक।
2. भक्तियोग अध्याय में संकलित।

भक्ति की प्राप्ति के लिए इन साधनों का प्रयोग यद्यपि भक्तियोग के नाम से स्वीकृत है किन्तु इसमें ज्ञान के तत्त्व अधिक हैं। गीता के भक्ति सम्बन्धी स्वरूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भक्ति की सामान्य धारणा गीता के रचनाकाल में हो चुकी थी किन्तु गीता में निर्दिष्ट भक्ति ज्ञानांग के ही रूप में स्वीकृत है। भक्ति के साधनों का संकेत पुनः अर्हिबध्न्य संहिता एवम् महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है। अर्हिबध्न्य संहिता के अनुसार ये साधन दो प्रकार के हैं- आचार एवम् ज्ञान विषयक। यहां एकान्तिक एवम् गुह्यमत के अन्तर्गत श्रद्धा भक्ति का भी उल्लेख है। सम्भवतः प्रेममूला भक्ति का मूल स्रोत यही गुह्य या एकान्तिक मत ही है।

जहां तक इस प्रेम का स्वरूप है, वह अनेकमुख है। रूपगोस्वामी रागानुगा भक्ति के दो भेद करते हैं-

1. कामरूपा,
2. सम्बन्ध रूपा,

कामरूपा भक्ति का मूलाधार सम्भोग तृष्णा है किन्तु कृष्णार्पण के पश्चात् इस सम्भोग तृष्णा का वासनात्मक स्वरूप हो जाता है। किन्तु प्रेम भक्तों के लिए है।

दूसरा भेद सम्बन्धरूपा भक्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन भक्तों ने सांसारिक सम्बन्धों को पांच भागों में विभक्त किया है। वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं कान्ता सम्बन्ध। इन्हीं से सम्बन्धित क्रमशः दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं मधुर सम्बन्धी भाव सम्बन्ध रूपा भक्ति के मूलाधार हैं।

इस प्रकार इन भक्तों में प्रेम के कई स्तर दृष्टिगत होते हैं-

1. लौकिक प्रेम जिसका आधार कामरूपा या सम्बन्धरूपा भक्ति है।
2. आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेम का आध्यात्मीकरण प्रेम के आध्यात्मीकरण की स्थिति में जहां कृष्ण गोपी एवं भक्त के सम्बन्ध से ऊपर उठकर आत्मा एवं ब्रह्म के सम्बन्ण्ध का बोध होने लगता है, वहां प्रेम रहस्यात्मक प्रेम (Mystic Love) में परिणति हो जाता है, किन्तु सगुणोपासना के कारण वह प्रेम उससे भिन्न हो जाता है।
3. शुद्ध प्रेम के अतिरिक्त ब्रह्म की उदात्तता, आत्मा की पवित्रता तथा आश्चर्य, भय, त्रास, जिज्ञासासूचक दास्य, शान्त, वीरभाव, की व्यंजना है, जिसे उदात्त (Sublime) की संज्ञा दे सकते हैं।

लीला एवं सौन्दर्य चिन्तन :-

भक्ति काव्य में स्थित प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन लीला है। इसका स्वभाव भी वस्तुतः प्रेमोन्मुख एवं उदात्त भाव से युक्त है। आचार्य वल्लभ ने इसकी जो व्याख्या की है, उससे इसके सौन्दर्यमूलक व्यवहार संघटना का निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है। उनके अनुसार यह लीला अवतार के समानान्तर है, किन्तु अवतार नही है। पुष्टिमार्ग में दो प्रकार की लीलाएँ स्वीकृत हैं- प्रथम परोक्ष लीला जो गोलोक में होती है एवं द्वितीय प्रत्यक्ष लीला जो अवतार के बाद पृथ्वीलोक पर उतर आती है। अवतार की स्थिति में यह गोलोक

लीला प्रत्यक्ष ब्रजलीला बन जाती है। भागवत तृतीय स्कन्ध एवं दशम स्कन्ध के रासपंचाध्यायी प्रकरण के भाष्य में आचार्य वल्लभ ने लीला की व्याख्या की है-

विलास की इच्छा का नाम लीला है। कार्य-व्यतिरेक से अर्थात् कार्य से रहित यह कृति मात्र है। इस कृति के बाहर कोई उत्पन्न नही होता। इससे उत्पन्न कार्य का कोई अभिप्राय नही होता। इसमें कर्ता का कोई प्रभाव भी नहीं उत्पन्न होता, किनतु अन्तःकरण के आनन्दपूर्ण उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है, यही भगवान की लीला है। लीला का लीलानन्द के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नही है। सृष्टि एवं प्रलय ही भगवान की लीला है। भागवत सुबोधिनी के छठे अध्याय के फल प्रकरण में उन्होंने बताया है कि प्रेम भक्तिरस का आस्वाद दो प्रकार का होता है- स्वरूपानन्द तथा नामलीलानन्द। आचार्य वल्लभ ने प्रेम की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है- स्नेह, आसक्ति एवं व्यसन। ये तीनों आवस्थाएं प्रेमानन्द के लिए साधन स्वरूप है। तीनों क्रमशः भक्ति को पुष्ट करके भगवतरति को उत्कट बनाती हैं।

गौणीय भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवतारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है- पुरूषावतार, गुणावतार एवम् लीलावतार। लीलावतार भागवत के अनुसार 24 है। इस लीलावतार में राम एवम् कृष्ण का व्यक्तित्त्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण एवं राम से सम्बन्धित लीला भाव के दो भेद है। असुर वध से सम्बन्धित उदात्त के भाव एवं आनन्द तथा विलास का भाव विलास के विषय में काम

मूलक लीला आवश्यक है। इसका आधार प्रेम है किन्तु दूसरी ओर असुरवध विषयक लीला का आधार प्रेम न होकर उदात्त (Sublime) का भाव है।

1. उदात्त का भाव :-

भक्ति काव्य के उदात्त सम्बन्धी भावों की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय आचार्य प्रवर पं0 रामचन्द्र शुक्ल को है। तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका में शील निरूपण शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने राम के चरित्र में निहित उदात्त सम्बन्धी अभिव्यक्ति भावों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उदात्त के लिए प्रेम आवश्यक नही है। इसकी भूमिका के अन्तर्गत श्रद्धा, विस्मय, भय, आश्चर्य, हीनता सम्बन्धी भाव उपेक्षित है। ये यद्यपि सौन्दर्य के अंग है। फिर भी इनका आधार प्रेम नही है। यह काव्य में अभिव्यक्त होने वाली सात्त्विक विस्मय बोधक एवम् आश्चर्यसूचक, भावों से युक्त मनःस्थिति विशेष है। शील श्रद्धा विश्वास, विगर्हणा, दैन्य, अनुकम्पी, भय इनके भाव हैं। चूंकि इनका सम्बन्ध प्रेम से नही है, अतः प्रेम एवम् प्रेम से सम्बन्धित लीला काव्य इसके अध्ययन की सीमा क्षेत्र से पृथक है। हिन्दी सगुण भक्त कवियों में प्रेम सम्बन्धी भाव की अधिकाधिक स्वीकृति सूर एवम् तुलसी के बाद ही हुई है। तुलसी के काव्यों में उदात्त सम्बन्धी अध्ययन के लिए रामचरित मानस, विनयपत्रिका, कवितावली का प्रमुख स्थान है। सूर साहित्य में (सूरसागर प्रथम खण्ड) सम्पूर्णतः उदात्त सम्बन्धी भावों का प्रतिनिधित्त्व करता है, अष्टछाप के अन्य कवियों में सामान्यतः नन्ददास, परमानन्ददास का ही इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है।

उदात्त सम्बन्धी भावों का अध्ययन हेतु इन्हें क्रमों में रखा जा सकता है।

1. असुर वध सम्बन्धी उदात्त भाव जो जिज्ञासा, भय, त्रास, अनुकम्पा, शक्ति एवं शौर्य आदि के प्रतिनिधि हैं।
2. अनन्यदया, करूणा सम्बन्धीभाव जो मानसिक शमत्व के प्रतीक है। दास्य के अधिकांश भाव इसी के अन्तर्गत आते हैं।
3. आत्म विगर्हणा तथा दीनता सम्बन्धी भाव जो आत्मोद्धार के भाव से प्रेरित हैं। ये दोनों प्रकार के उदात्त सम्बन्धी भाव भक्ति भूमिका पर आश्रित है।
4. ब्रह्म का उदात्त स्वरूप

इनकी स्थिति इस प्रकार है- असुर वध सम्बन्धी भावों की भूमिका में दो प्रकार के व्यवहार अनिवार्य रूप से आते हैं-

1. अवतार सम्बन्धी धारणा, 2. असुरो का आतंक

अवतार सम्बन्धी धारणा में सबसे प्रबल धारणा दुष्टों के विनाश की है। रामचरित मानस में रामावतार प्रमुख है। सांकेतिक रूप से बालकाण्ड एवं लंकाकाण्ड के अन्तर्गत विश्व के प्रायः सम्पूर्ण प्रमुख अवतारों का उल्लेख है। किन्तु उदात्त सम्बन्धी भाव के लिए नृसिंह एवं कृष्णावतार की चर्चा निरर्थक है। राम अवतार के साथ शंकरचरित्र कहीं-कहीं उदात्त भाव का उद्बोधक बन गया है। मानस में चार स्थलों पर राम के विराट रूप का उल्लेख है। वे स्थल हैं- कश्यप-अदिति वरदान, कौशिल्या का विराट यप दर्शन, सुतीक्ष्ण पर राम कृपा, भुशुण्डि मोह शेष अन्य स्थलों पर राम का चरित्र उदात्त

सम्बन्धी भावों का सामान्य बोध कराता है। सहायक पात्रों में हनुमान का चरित्र इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

राक्षस वध के अवसर पर मानस में उदात्त भावों की व्यंजना मिलती है। आसुरिक प्रवृत्तियों के समर्थक मात्र दशमुख रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, शपूर्णखा, ताड़का, कुमुख, अकंपन, धूमकेतु आदि हैं। इनका चरित्र नियोजन भय एवं रोमांचक तत्त्वों से संगठित है। मानसकार के अनुसार इन राक्षसों के कृत्य सुरापान करके छ माह तक सोना, एक दिन के आहार में सैकड़ो जीव-जन्तुओं का भक्षण, महिष का आहार, मुनि एवं ब्राह्मणों का रक्तपान, इनके गर्जन मात्र से गर्भपात का हो जाना, रमणीक एवं सुन्दर नगरों का त्रस्त कर देना, सुन्दरियों का अपहरण भीम का रूप धारण करके मानवों को सन्ताप देना आदि। ये सम्पूर्ण रोमांचक तत्त्व एक ओर आसुरिक शक्तियों की प्रचंडता एवम् दूसरी ओर भक्तों के आराध्य की शक्तिमत्ता सूचित करते हैं।

सूरसागर में कथित असुरवध लीला में उदात्त के पूर्णभाव हैं, सूरसागर में भागवत के आधार पर 24 अवतारों का उल्लेख है, किन्तु इन समस्त अवतारों में समर्पण उदात्त सम्बन्धी भाव नहीं है, उदात्त भी सौन्दर्य की ही भांति एक मानसिक वृत्ति है जो कवि के मानसिक रुझान पर आश्रित है। कथन मात्र से ही उदात्त का बोध नही होता। यहां उदात्त सम्बन्धी भाव का पूर्णप्रतिनिधित्व कृष्णावतार करता है। उदात्त की दृष्टि से कृष्ण की सम्पूर्ण लीला अपेक्षित नही है। निम्न लीलाएं इसके लिए महत्वपूर्ण हैं, पूतना,

वाणासुर, सकटासुर, वकासुर, अघासुर, कालियदमन, गोवर्धनलीला, शंखचूड़वध, केशीवध, प्रलम्ब वध, वृषभासुर वध, व्योमासुर वध, धेनुकवध, मुस्टिक वध, चाणूरवध, कंसवध, जरासंध वध, शिशुपाल वध। सूर सागर के ये घटनाएं उदात्त सम्बन्धी तीव्र भाव भय, संकोच, रोमांच, विस्मय, त्रास आदि से युक्त हैं। राम कथा में तड़ागवध, सुबाहुवध, धनुष भंग, रामवनगमन, कबन्ध, जयन्त, शूपर्णखा का कान नाक काटा जाना, मारीचवध, अनुमान का विराट रूप, लंकादहन, कुम्भकर्ण वध, मेघनाद वध, रावण वध आदि इसी से सम्बद्ध है।

अवतारवाद की मूलधारणा इसी से सम्बन्धित है। दो शक्तियों का परस्पर संघर्ष शौर्य शक्ति के उदात्त भाव से सम्बन्धित है। कृष्ण एवम् राम उच्चतम् शक्ति के प्रतीक हैं इस दृष्टि से सूरसागर में तीन प्रसंग विशेष महत्त्वपूर्ण है, दावानल पालन लीला, गोवर्धन तथ कालियनाम लीला। इन लीलाओं का मूल उद्देश्य कृष्ण की अनन्त शक्ति का बोध कराना है।

2. प्रियता का भाव :-

उदात्त के बाद प्रियता सूचक भावों का स्थान आता है। प्रियता सूचक भाव सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की सीमा में महत्वपूर्ण समझें जाते हैं। प्रियता मूलक भावों का आधार स्नेह (Affection) है। संस्कृत साहित्य में रस के सन्दर्भ में प्रियता सूचक भावों की एक सारणि आचार्य भामह से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक मिलती है- प्रेयन्, उर्जस्विन्, स्नेह, लौल्य, यूनता, भक्ति, वात्सल्य प्रियता मूलक भावों के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी सगुण भक्ति काव्य में इन

प्रियतामूलक भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। भक्तिरस के सन्दर्भ में बताया गया है कि सख्य एवं वात्सल्य भक्तिकाव्य के प्रियतामूलक भावों के मूल आधार है।

यहां इनके अभिव्यक्त स्वरूप का उल्लेख अपेक्षित है–

वात्सल्य :–

रूपगोस्वामी के अनुसार इसके आलम्बन बालकृष्ण विषय तथा उनके गुरूजनवृन्द आश्रय हैं। निम्न भक्त कवियों ने अपने काव्य में इसको अपना वर्ण्य विषय बनाया है– सूरदास, तुलसीदास, परमानन्ददास, नन्ददास। स्फुट रूप से अन्य अष्टछापी कवियों के पदसंग्रहों में भी एतद्सम्बन्धी कतिपय पद प्राप्त होते हैं। अष्टछाप को छोड़कर अन्य कवियों में कहीं एकाधपद ही इस भाव के मिलते हैं।

शिशुलीला :–

वात्सल्य सूचक प्रियता के भाव के अन्तर्गत प्रथम वर्ष से 5 वर्ष तक अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके उपरान्त सख्य एवम् न्यून भाव का क्रमशः विकास होता है। सम्पूर्ण कृष्ण या रामकथा में प्राप्त वात्सल्य का वर्ण्यविषय इस प्रकार है।

कृष्ण :–

श्रीकृष्ण जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, घुटुरूओं चलना, पांवों चलना, बाल छवि वर्णन, कनछेदन, चन्द्र प्रस्ताव, कलेउवर्णन, कीडन

राम :-

रामजन्म, बालछविवर्णन, नामकरण, अन्नप्राशन, दुलार, पालना एवं सोहलो का गाया जाना, पांवों चलना तथा राज प्रसाद में क्रीडा करना।

इन सन्दर्भो में नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, सोहलो, कनछेदन बालोत्सव से सम्बन्धित है। शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से जन्म, बालछवि वर्णन, घुटुरूवों चलना, पांवों चलना, चन्द्र प्रस्ताव, कलेवावर्णन, विभिन्न क्रीड़ाएं पालना आदि संदर्भ ही इसके अन्तर्गत आते है।

वात्सल्यसूचक भावों को डा0 करूणा वर्मा ने दो भागों में विभक्त किया है- संयोग वात्सल्य, 2. वियोग वात्सल्य। भक्तिकाव्य में दोनों सम्भावनाएं वर्तमान है। श्रीकृष्ण एवं राम दोनों एक निश्चित अवधि के पश्चात् अपने माता-पिता से वियुक्त हो जाते हैं। संयोग वात्सल्य के सन्दर्भ में स्नेह, उत्सुकता, हर्ष, आश्चर्य, पुलक, अश्रु, जड़ता मोह अनुराग, उमंग, लालसा, चपलता, सुरूचि के भाव यहां मिलते हैं। किन्तु प्रियतासूचक वात्सल्य का केन्द्रीय भाव स्नेह, पुलक एवम् तृप्ति है। वह संख्यक पद इसी भाव की व्यंजना करते हैं।

जहां तक वात्सल्यसूचक कृत्यों का प्रश्न है इन कवियें की दृष्टि समान ही रही है। व्यापक मंगलाचार के उपरान्त बालरूप का उल्लेख, पालने पर मुस्कराना, अंग फड़काना, अंगूठा चूसना, नन्द को देखकर मुस्कराना, यशोदा को देखकर किलकारी

भरना, किलक कर बोलने का प्रयास, घुटनों के वस चलना, मुड़ मुड़कर नन्द तथा यशोदा को देखना, आदि अनेकानेक प्रसंग यहां कल्पित है।

वात्सल्य भाव की प्रियता का विकास क्रमशः बाल, पौगन्ड एवम् किशोरावस्था में मिलता है। गुरूजनों या आश्रय के अन्तर्गत मोद, पुलक, स्नेह, अभिलाषा आदि के भाव इनमें मिलते हैं। वियोग वात्सल्य की स्थिति में आश्रय के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले भाव चिन्ता मोह, विषाद, दैन्य अधीरता, व्याकुलता, विक्षिप्त शंका निरन्तर मिलते हैं। वात्सल्य वर्णन के अन्तर्गत राम या कृष्ण के विष्णु स्वरूप का आभास प्रगट करना इनका मुख्य आधार है।

प्रियतामूलक भावों के उपरानत श्रृंगार एवम् प्रेम की अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य के अनेक रूपों में हुई है।

3. शास्त्रीय प्रेम एवम् श्रृंगार :-

श्रृंगार का आधार प्रेम भावना है, भक्ति साहित्य में विशेष रूप से कृष्ण काव्य श्रृंगार भाव कृष्ण की विलास लीला के रूप में है। भक्ति काव्य में श्रृंगार मुख्यतः दो रूपों में मिलता है-

1. शास्त्रीय श्रृंगार

2. स्वछन्द श्रृंगार या प्रेम

(1) शास्त्रीय श्रृंगार का सम्बन्ध रति स्थायी भाव से है और भक्ति कालीन काव्य में इस शास्त्रीय श्रृंगार के रूढ़िपरक वर्णन भरे पड़े हैं। यह रति व्यापार प्रकारान्तर से प्रेमभाव पर ही आधारित है और वासनात्मक रति इसके मूल में है। परम्परा में इसे दो भागों में

विभक्त किया गया है- संयोग या सम्प्रयोग तथा विप्रलम्भ। विप्रलम्भ के अभाव में संयोग श्रृंगार का कोई मतलब नही है। विप्रलम्भ के परम्परित चार भेद है- पूर्वराग, मान, प्रवास, प्रेमवैचित्र्य। पूर्वराग के हेतु चित्र, दर्शन श्रवण, वन्दि वक्रता दुति वक्रता एवं गीत हैं। पूर्वराग की मानसिक तथा शारीरिक दशाएं वही परम्परागत 10 है- लालसा, उद्देश्य, जागरण, तनाव, जड़ता, व्यग्रता, उन्माद, मोह एवम् वृत्ति। शास्त्रीय श्रृंगार के विवेचन के सन्दर्भ में 10 स्थितियों गिनाई गई हैं। 'मान' की स्थिति कृष्ण भक्ति काव्य में अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये द्विपक्षीय है- नायक पक्ष का मान तथा नायिका पक्ष का मान। सामान्य तथा अहेतुक भान सहेतुक मान- ये दो स्थितियों यहां भी है।

कृष्ण काव्य में संयोग श्रृंगार के दो भेद किए गए हैं, जो परम्परित तथा काव्यशास्त्रीय हैं-

(1) मधुर रस परिपाक

(2) गौण सम्भोग परक

(1) मधुर रस परिपाक :-

ब्रज, गोकुल एवम् वृन्दावन की सम्पूर्ण लीलाएं इसके अन्तर्गत -रास, केलि, बिहार, चीरहरण आदि।

(2) गौण सम्भोग परक :-

संयोग जन्य रति भाव का प्रकर्षवान बनाने के लिए युवक युवतियों (कृष्ण गोपिकाओं) की परस्पर काम चेष्टाएं पराकृष्टि, चुम्बन, आश्लेष नखक्षत अधरपान, कपट सुप्तता, मधुपान, वृन्दावन क्रीड़ा, यमुना क्रीड़ा, चौर्य लीला, वस्त्र चौर्य पुष्प चौर्य, कुंजगमनादि।

(2) कृष्ण भक्ति साहित्य लोक निष्ठा एवम् भागवत पुराण की लोकात्मक प्रेरणा के फलस्वरूप निष्पन्न हुआ है। अतः लोकधर्मिता ही इसका मूलाधार है। इसी क्रम में श्रृंगार की भी स्थिति है- जो शास्त्रीय कम स्वछन्द अधिक है। यह स्वछन्द प्रेम लोक भाव से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक आनन्द में विसर्जित होता है। विरक्ति से उत्पन्न यह आनन्द पूर्णतया आध्यात्मिक मन्तव्य की सृष्टि करता है साथ ही साथ रचना के उत्स से जुड़कर उसे सत्त्व दशा में ले जाकर काव्यात्मक आनन्द से भी जोड़ देता है। यह स्वच्छन्द प्रेम परम्परित शास्त्रीय व्यवस्था से पूर्णतया भिन्न जीवन के लोकात्मक एवम् नैसर्गित प्रवाहों की है। प्रेम को परिभाषित करते हुए रूप गोस्वामी ने कहा है-

सर्वथाध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंस कारणे।
यद्भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमो परिकीर्तिता।।[1]

सर्वथा ध्वंसरहित (पारस्परिक समर्पण की कामना से ओत-प्रोत) युवावस्था के न्यून (कामाश्रित समवयभाव सम्बन्ध) को प्रेम कहते हैं इस प्रेम के उत्तरोत्तर विकास की छः अवस्थाएं बताई गई है- रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग, अनुराग। ये परस्पर एक दूसरे के प्रति यौनाकर्षण से शुरू होकर तीव्र अनुराग में पर्यवसायी हो जाते हैं।

प्रेम की स्वच्छन्दता केवल वल्लभ मत में ही नही है। इस मत से अधिक उन्मुक्तता हमें राधावल्लभ, निम्बार्क चैतन्य -आदि मतों में दिखायी पड़ती है। इस प्रेम के विधि प्रसंगो को शास्त्र के अन्तर्गत खींच ले जाना धृष्टता होगी, इनका स्वर रोमैन्टिक है।

बिना भय, बिना संकोच सम्पूर्ण नैतिक मर्यादा का परित्याग करके स्वच्छन्द बन बिहार, अन्मुक्त विचरण रोमांटिक जैसा है जिस पर शास्त्र तथा व्यवस्था का कोई दबाव दोनों पक्षों में से एक भी पक्ष मानने को तैयार नही है।

श्रृंगार का अध्यात्मीकरण :-

कृष्ण की प्रेम लीला को सगुण भक्त कवि अगम्य, दुर्लभ, विचित्र आदि नामों से पुकारते हैं। इसका मूल रहस्य यही है कि लौकिक लीला अन्ततः आध्यात्मिकता में कैसे परिणत हो जाती है। वस्तुतः लीला का यही रहस्य है। लीला के पात्र, स्वतः लीला की स्थिति एवम् लीला के फल अपने मूल में श्रृंगार के उद्दीपक न होकर आध्यात्मिक अनुभूति के संयोजक हैं। यही अनुभूति लीला को भोग परक होने से बचाती है।

इस आध्यात्मीकरण के लिए कवि ने किन माध्यमों को आधार बनाया है। यही विवेच्य प्रश्न है ?

(क) रूप योजना द्वारा आध्यात्मीकरण :-

सगुण भक्त कवियों की आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत रूप योजना की शैली प्रयुक्त है। इस शैली के माध्यम से वे कृष्ण के रूपनियोजन के सन्दर्भ में आध्यात्मिक, धार्मिक या अलौकिक प्रसंग जोड़ते चलते हैं इस रूप नियोजन की पद्धति इस प्रकार है-

(1) पुराण कथित कृष्ण विषयक उपकरण :-

पुराणों में कृष्ण के रूप नियोजन एवम् सौन्दर्य चित्रण के सन्दर्भ में गोधूलि, गोरोचन श्रृंगिका, वंशी, लकुटी, मोर

चन्द्रिका पीताम्बर वनमाल आदि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। कृष्ण की पुराण लीला के सन्दर्भ में ये उपकरण अत्यधिक रूढ़ हो गए है। श्रृंगार लीला के इनके संकेतों के द्वारा कवि बोध कराता चलता है कि यह लीला सामान्य व्यक्ति की नही पुराण पुरूषोत्तम की है।

(2) कृष्ण का अंग वर्णन :-

भक्ति एवम् पौराणिक परम्परा में कृष्ण का अंग प्रत्यंग वर्णन प्रायः रूढ़ सा हो गया है। कमल नयन, शंख ग्रीव, श्याम वपु, क्षीण कटि, विशाल भृकुटी आदि विशेषणों से युक्त श्रीकृष्ण पौराणिक परम्परा से ही मान्य होते चले आ रहे हैं।

(ख) क्रिया एवं अलौकिक लीला का संकेत :-

(1) कृष्ण के महत्त्व की सूचना देकर कवि अनेक स्थल पर उनकी लीला को श्रृंगारिक होने से बचाता है। कोई भी श्रृंगारिक वर्णन होगा, कवि उसके बीच में कृष्ण के विष्णत्व का संकेत अवश्य कर देगा।

(2) अवतारवाद के कारणों की ओर भी संकेत करके कवि कृष्ण लीला का आध्यात्मीकरण करता है।

(3) अलौकिक क्रिया-कलापों का संकेत कभी-कभी कवि लीला के मध्य में करता चलता है।

(4) कृष्ण लीला की पवित्रता का वे एक और कारण बताते हैं लीला ब्रह्म कृष्ण की है, सामान्य व्यक्ति की नही। कृष्ण विषयक लीला होने के कारण पवित्र है।

(ग) फलश्रुति :-

इन कवियों ने कृष्ण की श्रृंगार लीला के फल को मुक्तिदायक माना है। कृष्ण की समस्त श्रृंगार कथाओं के अन्त में प्रायः फलश्रृति का निर्देश मिलता है। इस फलश्रुति में ये इस लीला को अत्यन्त पवित्र एवम् मुक्तिदायक स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लीलावादी भक्त कवि अपनी लीला विषयक श्रृंगारमूलक भावना के मार्जन के लिए कृष्ण या राम के ब्रह्मत्त्व का आश्रय लेते हैं। ब्रह्म के प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण कृष्ण की लीला श्रृंगारिक होने से प्रत्यक्षतः बच जाती है।

आनन्द :-

हिन्दी सगुण भक्ति काव्य में निहित सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को आनन्द के विश्लेषण के बिना पूर्ण नही कहा जा सकता। भक्ति काव्य में आनन्द सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक है। इसमें प्रेम, भक्ति एवं तत्त्वदर्शन में स्वीकृत आनन्द परस्पर निहित है। काव्य शास्त्र के अन्तर्गत रसास्वाद को भी आनन्द की अभिद्या दी गई है। भक्ति काव्य में प्राप्त आनन्द साधना का अंग होते हुए भी इस काव्य का मूल व्यंग रहा है। इस प्रकार अनेक स्रोतों से एकत्रित होकर आनन्द तत्त्व भक्ति काव्य का मूल उपजीव्य बन गया है।

आनन्द का अर्थ :-

हिन्दी सगुण भक्त कवियों ने 'आनन्द' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो में किया है। सूरदास के अनुसार आनन्द कृष्णरस

भक्ति एवं साध्यरूप प्रेम रस का पर्याय है। परमानन्ददास के अनुसार कृष्ण रसासव का पान ही परमानन्द है। नन्ददास के अनुसार रसमय, रसकारण रसिक कृष्ण ही आनन्द है। प्रायः सभी सगुण भक्त कवियों ने रास लीला से उत्पन्न रस को आनन्द का पर्यायवाची स्वीकार किया है। मीरा के अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम की उत्कृष्ट अनुभूति ही आनन्द है। चैतन्य एवं राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि युगललीलाजन्य अनुभूति को आनन्द शब्द से परिभाषित करते हैं। नन्ददास, सरसदास एवं व्यास जी उज्जवल रस को ही आनन्द की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार इन कथनों से स्पष्ट है कि आनन्द इन कवियों की साधना की उच्चतम् अनुभूति है। इन परिभाषाओं में आनन्द के तीन आधारों का संकेत मिलता है-

(1) भक्ति जनित आनन्द

(2) लीला जनित आनन्द

(3) प्रेम जनित आनन्द

(1) भक्ति जनित आनन्द :-

कई स्थलों पर कहा गया है कि सगुण भक्त कवियों की भक्ति पूर्ण रूपेण रूपायिता थी। वे स्वरूप कल्पना के माध्यम से आराध्य की मधुरतम अनुभूति कर लेते थे।[1] मानस में शंकर, कश्यप, तथा अदिति एवं सुतीक्ष्ण इसी भक्तिजन्य आनन्द की अनुभूति करते

---

1 सूरदास- गदगद् सुर, पुलक प्रेम रोम रोम भीजे,
सूरदास गिरधर जस गाई गाई जीजे।
प्र0 स्क0, पृ0 सं0 70

थे। इसके अन्तर्गत आराध्य के ललित स्वरूप, तत्सम्बन्धी चिन्ह, आंगिक चेष्टाओं आदि के माध्यम से आनन्द सम्बन्धी भाव को व्यक्त किया है। मानस, सूरसागर, परमानन्ददास सागर एवं नन्ददास की रचनाओं में विष्णु के अवतार रूप राम एवं कृष्ण का अंगिक एवम् चेष्टागत वर्णन मिलता है। मानस के अतिरिक्त सूर सागर एवं परमानन्ददास सागर में राम के विष्णु रूप के प्रति आनन्द मूलक भक्ति का आवेश प्रकट किया गया है।

(2) लीलाजनित आनन्द :-

लीलाजनित आनन्द सगुण भक्ति का मूल प्रतिपाद्य है। लीला लौकिक एवम् अलौकिक तत्त्वों से युक्त है। लीला के लिये कृष्ण को लौकिक होना पड़ता है, किन्तु यह मूलतः अलौकिक ही हैं। इस लीलाजन्य आनन्द के माध्यम से भक्त कवियों ने अपनी मधुर भक्ति की पुष्टि की है।

लीला विषयक आनन्द की आभासिक अनुभूति सख्य, वात्सल्य में भी प्राप्त होती है, किन्तु इनसे सम्बन्धित पदों की संख्या अधिक नहीं है।

मधुर लीलानन्द के सन्दर्भ में अंग प्रत्यंग एवं सज्जा वर्णन को भी ग्रहण कर लिया गया है। वातावरण के नियोजन में यह अधिक सहायक ज्ञात होता है।

लीलानन्द का स्वभाव प्रेमानन्द एवं भक्तिजन्य आनन्द से भिन्न है। लीलानन्द पूर्णरूपेण आरोपित भावानुभूति है। प्रेमानन्द में भक्त आराध्य विषयक रति का अनुभाव करता है। लीला

में इस रति का आरोप किया जाता है, मीरा के प्रेम से इस लीलानन्द की तुलना करने पर यह तथ्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, मीरा का प्रेमानन्द इससे भिन्न कोटि का है। मीरा ने इसीलिए मुरली, कुब्जा, गोपियों को सपत्नी तथा गोपियो ने मोर चन्द्रिकाका मुरली एवं कुब्जा को अपना शत्रु माना है। यह उनकी व्यक्तिगत रूचि का अंग है। उनके प्रेम के बीच में किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नही है। गोपियों के प्रेम की भी यही स्थिति है। वे अपने एवं कृष्ण के बीच में कोई तीसरा माध्यम नहीं चाहती किन्तु लीला विषयक आनन्द के लिए भक्त तथा आराध्य के बीच में लीला का बना रहना आवश्यक है। यही कारण है कि भक्त कवियों की मनोवृत्ति लीला में अधिक लगी है क्योंकि वे समझते हैं कि यह लीला ही अन्ततया कृष्ण विषयक आनन्दानुभूति कराने में समर्थ होगी।

इस प्रकार भक्त कवियों का लीलानन्द प्रेमानन्द एवं भक्त्यानन्द से पृथक शुद्ध आध्यात्मिक भाव से पुष्ट अनुरंजनात्मक आनन्द है।

(3) प्रेमानन्द या प्रेम जनित आनन्द :-

इस प्रेमानन्द का मूलाधार भक्ति है। यह भौतिक प्रेम या श्रृंगार से भिन्न कोटि की है। यह तीन रूपों में प्राप्त है-

1. ऐतिहासिक प्रेमानन्द जिसका अनुभव गोपियों ने किया था।
2. भक्ति से शासित प्रेमानन्द जो मीरा के काव्य में मिलता है।

3. आभासिक प्रेमानन्द जिसके अन्तर्गत भक्ति गोपियों का अनुकरण करके कुंजलीला करते हैं यह आभासिक या आरोपित लीलानन्द का एक ही प्रकार है।

ऐतिहासिक प्रेमानन्द मूलरूप से लौकिक था या अलौकिक स्पष्ट रूप से इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसका जो स्वरूप हिन्दी सगुण भक्तिकाव्य में प्राप्त है, उसके आधार पर इसे अलौकिक आधार से सम्पन्न मानना युक्तसंगत प्रतीत होता है। सगुण भक्त कवियों ने अपने काव्य में अनेक स्थलों पर संकेत किया है कि गोपियों को यह ज्ञात था कि कृष्ण ब्रह्म है। यही नहीं, अनेक स्थलों पर कृष्ण को विष्णु, राधा को आह्लादिनी चित् शक्ति एवम् गोपियों को राधा की शक्ति कहा गया है। इस प्रकार तज्जन्य सुखानुभूति भौतिक सुख की अनुभूति से किंचित भिन्न हो जाती है। आभासिक प्रेमानन्द पूर्णरूपेण आरोपित या अनुकृत आनन्द के समानान्तर है। इसमें भक्त उस सुख या आनन्द को प्राप्त करना चाहता है जिसे गोपियां एवम् कृष्ण परस्पर सम्मिलन से प्राप्त कर चुके हैं। इन सब से महत्त्वपूर्ण प्रेमानन्द है, जो मात्र मीरा के ही काव्य में प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त भक्ति काव्य में आभासिक प्रेमानन्द की भी निष्पत्ति मिलती है। इसके समर्थक हरिदासी, हरिव्यासी, राधावल्लभ एवम् रामोपासक मधुर कवि हैं। जहां अष्टछापी कवि प्रेमानन्द के सन्दर्भ में गोपीलीला को माध्यम बनाते हैं तथा मीरा कृष्ण से अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती हैं, ये भक्त कवि स्वतः

अपने ऊपर गोपी भाव का आरोपण करते हैं। राधा, ललिता, विशाखा आदि एवम् रामभक्ति शाखा में अष्ट मंजरियां इनके आरोपण के लिए आधार स्वरूप हैं। ये भक्त अपने व्यक्तित्त्व में इन्हीं में परिवर्तित करके आराध्य के वास्तविक प्रेम को पाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार आरोपित व्यक्तित्त्व के कारण इनकी तद्विषयक आनन्दानुभूति को आभासिक ही कही जा सकी है।

काव्यानन्द :-

आनन्द के इस स्वरूप के अतिरिक्त भी यहां एक विशेष प्रकार के आनन्दतत्त्व का उल्लेख करना अनिवार्य है जिसे काव्यानन्द कहा जाता है। यह वस्तुतः अभिव्यक्तजन्य आनन्द है। कलावादी आचार्य काव्य की क्रीड़ावृत्ति या भावात्मक आग्रह को काव्यानन्द की संज्ञा देते हैं किन्तु यह काव्यानन्द भी अभिव्यक्ति का ही चमत्कार या फल है। भक्ति काव्य में ब्रह्म विषयक प्रेममूलक अनुभूति एवं आनन्द तत्त्व की ही एकमात्र अभिव्यक्ति मिलती है। इस दृष्टि से यही आनन्दतत्त्व इनकी काव्याभिव्यक्ति का भी अंग है। इस प्रकार इनके काव्य का अभिव्यक्तजन्य आनन्द काव्यानन्द के नाम से पुकारा जाता है यह भक्त गायकों को उसी प्रकार प्रिय है, जिस प्रकार ब्रह्म –क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उनकी प्रेममूलक काव्यवाणी इनके लिए सदैव मूलाधार रही है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी सगुण भक्ति साहित्य की कलात्मक व्याख्या का आधार संस्कृत का काव्यशास्त्रीय चिन्तन नही है कविता होने के कारण शब्द और अर्थ

के वैचित्य के सीमा का यह स्पर्श अवश्य करता है किन्तु जहां तक इस साहित्य का व्यापक साहित्यिक मूल्यवत्ता का प्रश्न है उसके लिए भिन्न मानदण्ड अपेक्षित है और इनकी खोज हमें भक्ति कविता में अन्वेषित करना पड़ेगा। भक्ति काव्य व्यापक लोकानुभव का काव्य रहा है इसलिए लोक जीवन की व्यापक संभावनाओं के प्रकाश में इसके सामने संस्कृत काव्यशास्त्र बौना दिखाई पड़ता है।

षष्ट अध्याय

----- 0 -----

उपसंहार

उपसंहार

सगुण भक्ति काव्य के लिए मूलाधार इस काव्य की वे मान्यताएं हैं जो इनमें अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के माध्यम से सगुण भक्ति साहित्य के उस रचनात्मक स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है जिनको प्रेरित करने की क्षमता इस सगुण भक्ति काव्य की लीला दृष्टि में वर्तमान है।

जहां तक लीला दर्शन का प्रश्न है यह सगुण भक्ति काव्य के लिए मूलाधार है। सगुण भक्ति काव्य में काव्यत्व और भक्तितत्त्व के बीच ऐसा अन्तरंग सम्बन्ध इन कवियों ने स्थापित किया है जो सिक्के के दो पहलू की भांति दिखायी पड़ते हैं। एक ओर से देखिये तो इस समूचे साहित्य की निष्पत्ति भक्ति के रूप में प्रतीत होती है किन्तु दूसरे पक्ष से देखिये तो काव्यात्मक सृजन का एक लोक संवेदित रूप अभिव्यक्त होकर हमारे सामने आता है। इस विशिष्टता के केन्द्र में लीला दर्शन है।

लीला का सम्बन्ध एक ओर भक्ति चिन्तन की दार्शनिकता से है तो दूसरी ओर लोकात्मकता की व्यावहारिक दृष्टि से। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के विवेचकों ने ब्रह्म की सच्चिदानंदमय सत्ता उसके अज, अद्वैत, निर्गुणत्त्व आदि तत्त्वों का खण्डन नही किया है अपितु उसके सर्वसामर्थ्यवान स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसकी लोकात्मक व्यावहारिकता की स्थापना की है और इस स्थापना के मूल में मन्तव्य यह रहा है कि जो अज, अद्वैत अज्ञेय, ज्ञानातीत निर्गुण ब्रह्म है यह लोक के लिए अनुभव का आधार कैसे बने। उसे

लोकानुभव तक उतारने के लिए अवतरण और लीला की कल्पना की गयी और विशेष रूप से भागवत पुराण का इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण योगदान है। अवतरित ब्रह्म में लोकभावानुरूप लीला ही इस सन्दर्भ में विशेष स्वीकार्य हुई। इस प्रकार सगुण भक्त आचार्यो ने विशेषकर रामानुजाचार्य, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु भागवत पुराण आदि ने अद्वैत ब्रह्म के द्वैत रूप को सगुणात्मकता या विशेष रूप से लीला से जोड़ा।

सगुण ब्रह्म की लीला और लोक के बीच अपरिहार्य सम्बन्ध है। ब्रह्म लोक में लोक मंगल के लिए, साथ-ही-साथ, भक्तों को अपनी लीला के आनन्दित करने के लिए अवतरित होता है। अद्वैत वेदान्त के ठीक प्रतिकूल सगुणवादी चिन्तकों ने विशेषकर भागवत पुराण इस बात पर बल देता है कि प्रभु लोक से अपने को जोड़ने के लिए तथा अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का एहसास कराने के लिए अवतरित होता है और निरन्तर वे सचेष्ट रहते हैं कि लोक उसकी आध्यात्मिकता को विस्मृत न करे। भागवत पुराण में देवकी के समक्ष जब कृष्ण का प्राकट्य होता है तब वे देवकी को समझाते हैं कि मैंने तुमको अपना यह चतुर्भुज विग्रह सम्पन्न स्वरूप इसलिए दिखाया है कि तुम कहीं मुझमें लोक जगत में स्थित पुत्र का भ्रम न रखो। रामचरितमानस में भी कौसल्या के समक्ष राम का इसी रूप में प्राकट्य होता है। मानस तथा भागवत पुराण दोनों में निरन्तर यह चेष्टा दिखायी पड़ती है। स्थल-स्थल पर प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य उनकी अनन्त शक्ति, अनन्त प्रभुत्वच का स्पष्ट भाव से या व्यंजना भाव से अंकन कराया जाय।

लीला भाव की अभिव्यक्ति की इस दृष्टि में प्रभु की अनन्तता, अनन्त ऐश्वर्यमयता, एवम् शक्तिमयता की व्यंजना निरन्तर सगुण भक्ति काव्य में दिखायी पड़ती है। लोकभाव और लीला के इस परस्पर द्वैत सम्बन्ध के बीच सम्पूर्ण सगुण भक्ति काव्य की रचना हुई है। सगुण भक्ति का आधार एक लोक चरित है और इस लोक चरित को बराबर साधन के रूप में स्वीकार किया है। कवियों ने इसे माध्यम बनाया है। इस लोक लीला भाव का साध्य या उसकी व्यंजना प्रभु की आध्यामिकता को व्यंजित करना है।

जहाँ तक सगुण ब्रह्म की लीलाभिव्यक्ति का प्रश्न है इसे भक्ताचार्यों एवम् भागवत पुराण आदि सभी ने उनकी विलासेच्छा के नाम से पुकारा है। लीला अवतार के अनेक हेतु हैं लेकिन प्रभु की लीला केवल उन्हीं हेतुओं तक सीमित नहीं है अपितु अपने आचरणों द्वारा, लोकात्मक कृत्यों द्वारा लोक को आनन्दित करना, भक्तों को विह्वल बनाना और भक्तिरस पान के लिए उन्हें बार-बार उद्वेलित करना प्रभु की इस विलासमयी लीला का प्रयोजन है। इस प्रकार लीला का एक उद्देश्य भक्तों को आनन्द तथा आध्यात्मिक आस्वाद आदि से संपृक्त करना भी है किन्तु अवतरण के रूप में लीला के साथ लोक हित का भाव जुड़ा हुआ है।

ब्रह्म और लीला के सन्दर्भ को देखते हुए एक क्षण के लिए सत्य और मिथ्या का द्वन्द्व सामने उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए राम अपनी पत्नी के वियोग में वियोग पीड़ित क्रन्दन करते हैं, किन्तु कवि की वहीं यह टिप्पणी है कि यह आर्त क्रन्दन केवल

लोक में दिखाने के लिए है। इस प्रकार सत्य और मिथ्या दोनों का सम्बन्ध कृष्ण काव्यों एवम् श्री रामचरितमानस आदि में बराबर दिखायी पड़ता है। यह सत्य और सत्याभास का द्वन्द्व केवल बहाना मात्र है। भक्तजन प्रभु की लीला मानकर उस आसक्ति में सत्य जैसा आनन्द प्राप्त करते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण सुख दुःखात्मक लीला में अभिव्यक्ति लोक भाव भक्तों के लिए सर्वथा आनन्दकारी है। इस प्रकार प्रभु की लीला भक्त के लिए सर्वथा आनन्दमयी है।

सगुण लीला काव्व और साहित्यिक दृष्टि :-

हिन्दी सगुण भक्ति काव्य में लीला की इस अभिव्यक्ति के फलस्वरूप परंपरित साहित्य से भिन्न कतिपय निष्कर्ष काव्य-पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं। इन सन्दर्भो का विवेचन परंपरित साहित्य से नही दिया जा सकता क्योंकि भक्ति और लीला में मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का व्यापक फलक दिखायी पड़ता है जो प्राचीन ललित साहित्य में नही है। और उससे जुड़े काव्यशास्त्रीय चिन्तन के द्वारा यह विवेचन असम्भव है। इस दृष्टि से साहित्य की यहां तीन अभिनव दृष्टियां अवतरित हुई है-

1. लोक हितवादी दृष्टि
2. भक्तिरस विषयक अवधारणा
3. आनन्द विषयक अवधारणा

1. लोक हितकारी दृष्टि :-

अवतार एवम् लीला का सम्बन्ध व्यापक लोक मंगल की स्थापना से है असुरों का वध, पृथ्वी की रक्षा, गाय एवम् ब्राह्मण

की रक्षा तथा परंपरित श्रेष्ठ लोक मूल्यों के रक्षा के लिए तत्परता यह दृष्टि अवतार और लीला के साथ सर्वत्र देखी गयी है। रावण, कंस, कुम्भकर्ण, मेघनाथ चाणूर आदि राक्षसों तथा असुरों के वध के उपरान्त समाज में श्रेष्ठ मूल्यों की अवधारणा अवतार और लीला का मूल मन्तव्य है। भक्ति साहित्य इस मन्तव्य को इन अवतरित चरित्रों के माध्यम से सर्वथा स्थापित करता चलता है।

2. भक्तिरस विषयक अवधारणा :-

लीला का सम्बन्ध लोक से है और साहित्य में लोक का सम्बन्ध लोकानुभव से है। इसी लोकानुभव से साहित्य के रस एवम् भावों का सम्बन्ध है। हास्य, करूण, श्रृंगार, भयानक रौद्र, वीर, अद्भुत, वीभत्स इन आठ रसों का सम्बन्ध लोकानुभव से है। ये सारे के सारे रस भक्ति काव्य में मिलतें हैं लेकिन गौड़ या सहायक बनकर। लोक भाव अर्थात् उनसे सम्बद्ध भक्तिरस के पोषक है और इस प्रकार सगुण भक्ति काव्य में लोकभाव सहायक या गौड़ है। उनका मुख्य कार्य भक्ति रस का पोषण करना, जो ललित काव्य की पूर्व परम्परा में कहीं भी नहीं है।

अनेक काव्य विवेचकों ने इसका दूसरी तरह से भी अध्ययन किया है।

(क) वे भारतीय काव्य शास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त को आधार बनाकर विवेचित करते हैं कि भक्ति काव्य में लोक और अध्यात्म का द्वन्द्व ध्वनि सिद्धान्त जैसा है।

(ख) लोक वाच्य है, आध्यात्मिकता व्यंग है। इस प्रकार लोक साहित्य में स्वीकृत श्रृंगारादि रस वाच्य और भक्ति रस व्यंग है।

(ग) भक्ति रस की परिकल्पना मानव जीवन के प्राकृतिक विकास क्रम से सम्बद्ध है। यहां चार भाव प्रमुख दास्य, वात्सल्य, संख्य और श्रृंगार।

ये मानवीय विकास के तीन सोपान हैं। मनुष्य की बाल्यावस्था, मनुष्य की किशोरावस्था, मनुष्य की परिपक्वावस्था। इनके अतिरिक्त शांत और दास्य भाव सामाजिक भावना से जुड़े हैं। इस प्रकार भक्ति रस का अध्ययन फलक और उसकी व्यवस्था व्यापक मनोवैज्ञानिक आधार शिला पर आधारित है और इसीलिए भक्ति काव्य में व्यापक भावात्मकता की स्थिति दिखायी पड़ती है।

आनन्द का निष्कर्ष :-

भक्ति काव्य लोकानुभव एवम् व्यापार की व्यापकता से जुड़ा हुआ है इस लोकात्मक व्यापकता से सम्बद्ध होने के कारण केवल भक्तिरस इस साहित्य में अभिव्यक्त, कलात्मक तथा आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। इसीलिए भक्ति काव्य में परिव्याप्त लोकानुभवों की व्याख्या के लिए सौन्दर्यशास्त्र की अपेक्षा की जाती है। सम्पूर्ण भक्ति काव्य में निम्नलिखित प्रकरण के अनुभव बोध अभिव्यक्ति हैः-

(क) उदात्त का भाव :- असुर वध एवम् राक्षस वध की घटनाओं से सम्बद्ध भाव

(ख) प्रियता का भावः- लोक में बड़े छोटे सम्वयस्क आदि के व्यापक आधार फलक पर आधारित भाव जैसे मृगया, गोचारण आनन्द के लिए वंशी, नाना प्रकार के क्रीड़ायें।

(ग) प्रेम :- (अ) श्रृंगारिक प्रेम, शास्त्रीय प्रेम

(ब) स्वछन्द प्रेम या उन्मुक्त प्रेम

(घ) आनन्द :- इसके तीन रूप हैं -

(1) काव्यानन्द

(2) ब्रह्मानन्द

(3) परस्पर मिश्रित

इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि सगुण भक्ति काव्य की लीला विषयक अवधारणा न केवल परंपरित आध्यात्मिक चिंतन के स्वरूप में परिवर्तन उपस्थित किया अपितु परम्परा की चली आती हुई ललित कविता को एक नया मोड़ दिया जो लोकानुभव तथा आध्यात्मिकता के स्पन्दन से संपृक्त है। लीला के अवधारणा के ही फलस्वरूप आध्यात्मिक कविता ललित कविता से भिन्न हो जाती है और इसीलिए उसकी व्याख्या के लिए भिन्न मानकों की तलाश आवश्यक है।

परिशिष्ट

----- 0 -----

सहायक ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

सन्त साहित्य

मूल ग्रन्थ

1.	कबीर ग्रन्थावली	संपादक, श्याम सुन्दर दास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी छठवां संस्करण, सं0 2013
2.	पलटूदास की बानी	श्री रामफल पुरूषोत्तमदास धर्मबाबू बैजनाथ प्रसाद बनारस सिटी सन् 1939
3.	प्रेम दीपिका	महात्मा अक्षर अनन्य राय बहादुर लाला सीता राम हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू0पी0 सम्वत् 1935
4.	बोध सागर नं0 10	संग्रहकर्ता श्री युगलानन्द लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस मुंबई सं0 1983
5.	भक्ति सागर (परिशिष्ट भाग सहित)	श्री स्वामी चरणदास जी प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पंचम संस्करण सन् 1931
6.	रहिमा विलास	ब्रजरत्न दास राम नारायण लाल इलाहाबाद परिवर्द्धित संस्करण प्रथमा वृत्ति 1987

7.	रैदास जी की बानी और जीवन चरित्र	बेल व्रेडियर प्रेस इलाहाबाद प्रथम संस्करण, 1918 ई0
8.	सुन्दर ग्रन्थावली (द्वितीय खण्ड)	हरिनारायण शर्मा राजस्थान रिसर्च सोसाईटी कलकत्ता, प्रथम संस्करण 1963
9.	सन्त कबीर	डा0 राम कुमार वर्मा साहित्य भवन इलाहाबाद 1950 ई0
10.	संत काव्य	परशुराम चतुर्वेदी किताब महल इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1952 ई0
11.	संत बानी संग्रह	वेल्वेडियर प्रेस इलाहाबाद चतुर्थ संस्करण, सन् 1946
12.	सन्त वाणी	संपादक श्री वियोगी हरि सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली तृतीय संस्करण सन् 1944

राम भक्ति साहित्य

1.	कवितावली (हिन्दी अनुवाद सहित)	गोस्वामी तुलसीदास अनुवादक, इन्द्रदेव नारायण गीता प्रेस, गोरखपुर नवम् संस्करण, सं0 2008
2.	केशव कौमदी (दूसरा भाग रामचन्द्रिका उत्तरार्द्ध)	टीकाकार, लाला भगवानदीन प्रकाशक, राम नारायण लाल इलाहाबाद तृतीय संस्करण, सन् 1945
3.	केशव कौमुदी (प्रथम भाग रामचन्द्रिका पूर्वार्द्ध)	टीकाकार, लाला भगवानदीन प्रकाशक, राम नारायण लाल इलाहाबाद छठवां संस्करण, सं0 2004
4.	कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास सं0, इन्द्रदेव नारायण गीता प्रेस गोरखपुर सम्वत् 2016
5.	गीतावली (हिन्दी अनुवाद सहित)	गोस्वमी तुलसीदास अनुवादकर्ता, मुनिलाल गीता प्रेस गोरखपुर षष्ठ संस्करण, सं0 2008
6.	तुलसी ग्रन्थावली (भाग 1,2)	काशी नागरी प्रचारिणी सभा 1927 ई0
7.	दोहावली	गोस्वमी तुलसीदास अनुवादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर बारहँवा संस्करण, सं0 2013

8. जानकी मंगल — गोस्वामी तुलसीदास
सं0, हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस गोरखपुर।
सं0 2017

9. पार्वतीमंगल — गोस्वामी तुलसीदास
सं0, हनुमान प्रसाद पोद्दर
संवत् 2017 गीता प्रेस, गोरखपुर

10. रामचरितमानस — डा0 माता प्रसाद गुप्त
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

11. विनय पत्रिका — गोस्वामी तुलसीदास
हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस गोरखपुर
द्वादश संस्करण सं0 2008

12. वैराग्य संदीपनी — गोस्वामी तुलसीदास
अनुवादक, हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस, गोरखपुर
तृतीय संस्करण, सं0 2013

13. श्री रामचरित मानस (विजया टीका, तीन भाग) — प्रकाशक- मोतीलाल, बनारसीदास,
बनारस, प्रथम आकृति
सं0 2011

14. हनुमान वाहुक — गोस्वामी तुलसीदास
टीकाकार, पं0 महावीर प्रसाद
मालवीय, गीताप्रेस गोरखपुर
उन्नीसवां संस्करण, सं0 2014

कृष्ण भक्ति साहित्य

1. कलि चरित्र वेली — चाचाजी श्री हित वृन्दावन दास जी
प्रकाशक बाबा तुलसीदास
शिवलाल गोवर्धन दास
पुराना शहर, वृन्दावन
प्रथम संस्करण, सं0 2009

2. कीर्तन संग्रह (भाग तीन) — नित्यपद के कीर्तन
ल0छ0 देसाई
अहमदाबाद
प्रथम संस्करण, 1996 वि0

3. कुंभनदास (जीवनी, पद संग्रह और भावार्थ) — सं0 ब्रजभूषण शर्मा,
कण्ठमणि शास्त्री
गोकुलानन्द शर्मा
प्रकाशक, विद्या विभाग
कांकरोली
प्रथम संस्करण, सं0 2010

4. गोविन्द स्वामी — 'पदसंग्रह' सम्पादक ब्रजभूषण शर्मा
आदि, विद्या विभाग,
कांकरोली

5. घनआनन्द और आनंदघन (ग्रन्थावली) — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
प्रथम संस्करण, 2002 वि0

6. द्वादश यश — चतुर्भुज दास
शेठ मणिलाल जमुनादासशाह
बुखारा की पोल, शाहपुर
अहमदाबाद
प्रथम संस्करण 1993 वि0

7. नन्ददास (द्वितीय भाग) — सम्पादक, उमाशंकर शुक्ल, प्रकाशक, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन् 1942

8. नन्ददास ग्रन्थावली — ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण, सं0 2006

9. भंवर गीत — नन्ददास, सम्पादक, विश्वम्भर नाथ मेहरोत्रा, प्रकाशक, राम नारायण लाल इलाहाबाद अष्टम संस्करण, 1948 ई0

10. परमानन्द सागर — सम्पादक, ब्रजभूषण शर्मा, कण्ठमणि शास्त्री, गोकुलानन्द तैलंग, विद्या विभाग, कांकरोली, प्रथम संस्करण, सं0 2016

11. भक्त कवि व्यास जी — वासुदेव गोस्वामी, सम्पादक, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, सं0 2009

12. मीराबाई की पदावली — श्री परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, आठवां संस्करण, सं0 2014

13.	वंसत धमार कीर्तन संग्रह	ल0छ0 देसाई अहमदाबाद सं0 1984
14.	श्रीकृष्ण गीतावली (सरल भावार्थ सहित)	गोस्वामी तुलसीदास अनुवादक, हनुमान प्रसाद पोद्दार गीता प्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण, सं0 2014
15.	निम्बार्क माधुरी	सम्पादक, ब्रह्मचारी बिहारी शरण प्रकाशक, ब्रह्मचारी बिहारी शरण वृन्दावन, सं0 1997
16.	श्री व्यास वाणी	प्रकाशक, अखिल भारत वर्षीय श्री हितराधा वल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन (मथुरा) सन् 1935
17.	श्री वयालीस लीला तथा पद्यावली	ध्रुवदास प्रकाशक- बाबा तुलसीदास श्री राधा वल्लभ जी का मन्दिर वृन्दावन
18.	श्री लाड़ सागर	हित वृन्दावन दास जुगुल किशोर काशीराम पूर्व पंजाब प्रथम संस्करण, 2011 वि0
19.	ब्रज माधुरी सार	सम्पादक- वियोगी हरि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग पंचम संस्करण, सं0 2002

20. श्री हित सुधा सागर (श्री हितवाणी जी, महाप्रभु श्री हितहरिवंश गोस्वामी चरणकृत। श्री सेवकवाणी जी, श्री सेवक जी महाराज कृत) — प्रकाशक, स्वामी श्री नारायण दास अलीगढ़, प्रथम संस्करण 1993 वि0

21. सूरदास मदन मोहन (जीवनी और पदावली) — प्रभुदयाल मीतल अग्रवाल प्रेस मथुरा, प्रथम संस्करण, सं0 2015 वि0

22. सूरसागर (दूसरा खंड) — सम्पादक, नन्ददुलारे बाजपेयी प्रकाशक– नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय संस्करण, सं0 2012

23. सूर सागर (पहला खंड) — सम्पादक– नन्ददुलारे बाजपेयी प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय संस्करण सं0 2009

24 सूर सागर सार — संकलनकर्ता, डा0 धीरेन्द्र वर्मा साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सं0 2011

अन्य सहायक ग्रन्थ

1. अष्टछाप — डा0 धीरेन्द्र वर्मा
राम नारायण लाल प्रेस, प्रयाग
प्रथम संस्करण, 1929 ई0

2. अष्टछाप — कण्ठमणि शास्त्री, कांकरोली
द्वितीय संस्करण, सं0 2009

3. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (प्रथम भाग) — डा0 दीन दयाल गुप्त

4. अष्ठछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (द्वितीय भाग) — डा0 दीन दयाल गुप्त

5. उत्तरी भारत में संत परम्परा — परशुराम चतुर्वेदी
भारती भण्डार प्रयाग
प्रथम संस्करण, सं0 2008

6. एकनाथ व तुलसीदास (तुलनात्मक अध्ययन) — जगमोहन लाल चतुर्वेदी
औरंगाबाद
प्रथम संस्करण, 1924 ई0

7. कविवर सेनापति और उसका काव्य — डा0 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
प्रथमा वृत्ति, सं0 2009

8. काव्य के उदात्त तत्त्व — डा0 नगेन्द्र

9. काव्यांग कौमुदी (द्वितीय कला) — विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
मोहन वल्लभ पंत
नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स
बनारस, द्वितीय संस्करण
सं0 1988

10. गीता रहस्य — लोकमान्य तिलक

11. गोरख बानी — डा0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
प्रयाग, द्वितीय संस्करण,
सं0 2003

12. दर्शन दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन
द्वितीय संस्करण, सं0 1942 ई0

13. निर्गुण काव्य दर्शन — सिद्धिनाथ तिवारी
अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना
प्रथम संस्करण, 1953 ई0

14. भक्त माल हरिभक्ति प्रकाशिका — गंगा विष्णु श्री कृष्ण दास
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, सं0 1981
कल्याण, मंवई।

15. भारतीय तत्त्व चिंतन — जगदीश चन्द्र जैन
राजकमल प्रकाशन, बम्बई

16. भक्ति सिद्धान्त — डा0 आशा गुप्त
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्रथम संस्करण 1984

17. भक्ति तत्त्व दर्शन–साहित्य–कला — सम्पादक, कल्याणमल लोढ़ा
जय किसनदास सादानी
भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता

18. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य — हरिकान्त श्रीवास्तव
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
बनारस, प्रथम संस्करण, 1955ई.

19. मध्यकालीन धर्म साधना — डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

20. मानव मूल्य और साहित्य — डा0 धर्मवीर भारती

21. मानस बालकाण्ड के स्त्रोत — श्रीश कुमार
हेमाम प्रकाशन, काशी
प्रथम संस्करण, 1957 ई0

22. मिश्रबन्धु विनोद (द्वितीय भाग) — गंगा पुस्तक माला

23. रसखान और उनका काव्य — चन्द्रशेखर पांडे
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग, सं0 1999

24. राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य — डा0 विजयेन्द्र स्नातक
नेशनल पब्लिंग हाउस
दिल्ली, प्रथम संस्करण
सं0 2014

25. राम कथा — डा0 कामिल बुल्के
हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय

26. राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना — भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र
'माधव'
विहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना
प्रथम संस्करण, 1957 ई0

27. तुलसी दर्शन मीमांसा — डा0 उदय भानु सिंह
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
सं0 2018

28. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव — डा0 बदरी नारायण श्रीवास्तव, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय

29. लीला और भक्तिरस — डा0 योगेन्द्र प्रताप सिंह

30. वैष्णव धर्म — परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1953 ई0

31. सूर साहित्य — डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, प्रथम संस्करण, सं0 1993

32. सूरदास — डा0 ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय

33. गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस लोक भारती टीका — पो0 योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोक भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण सन् 1999

34. हिन्दी और कन्तड़ में भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन — डा0 हिरण्मय

35. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय — डा0 पीताम्बर बड़थ्वाल, अवध पब्लिसिंग हाउस, लखनऊ सं0 2007

36. हिन्दी भाषा और साहित्य — डा0 श्याम सुन्दरदास

37. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा0 राम कुमार वर्मा, राम नारायण लाल, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, 1948 ई0

38. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवां संस्करण, सं0 2014

39. हिन्दी साहित्य का विवेचानात्मक इतिहास — सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास अध्यक्ष, लाहौर, 1931 ई0

40. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त परिचय — रामरतन भटनागर, इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1951 ई0

41. हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य काव्यादर्श तथा काव्य सिद्धान्त — डा0 योगेन्द्र प्रताप सिंह

42. हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, षष्ठ संस्करण 1955 ई0

43. श्री भक्त माल सटीक — नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1913 ई0

44 श्री भक्त माल सटीक वार्तिक प्रकाश युत — नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1913 ई0

संस्कृत ग्रन्थ

1. आध्यात्म रामायण (हिन्दी अनुवाद सहित) — अनुवादक मुनि लाल, गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं0 1994

2. उपनिषद — कल्याण अंक, गीता प्रेस गोरखपुर

3. पातंजल योग दर्शन — सांख्य योगाचार्य श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य कृत बंगला भाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी रूपान्तर, संपादक, डा0 भगीरथ मिश्र, आदि लखनऊ विश्वविद्यालय

4. प्रेमदर्शन, देवर्षि नारद विरचित भक्ति सूत्र — हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण, सं0 1992

5. ब्रह्म सूत्र (शंकर भाष्य भाषानुवाद) भाग 1, 2 — अनुवादक ब्रह्ममचारी विष्णु, वेदान्त केसरी कार्यालय, वेलनगंज, आगरा, संवत 1988, 1989

6. ब्रह्मसूत्र भाष्यम सरिप्पनं मूलमात्रम

7. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यम् चतुः सूत्रोभागः — सन् 1915

8. भक्ति मीमांसा

9.	सिद्धान्त रहस्य विकृति	श्री हरिराय अनुवादक, देवर्षिभट्ट रमानाथ शास्त्री, सिद्धान्त कार्यालय, सं0 1984
10.	शाण्डिल्य शतसूत्रोयम भाष्यम श्री शाण्डिल्य सूत्रम्	
11.	श्रीमद् भगवत गीता	अनुवादक, श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीता प्रेस गोरखपुर सप्तम् संस्करण, सं0 2008
12.	श्रीमद् भागवत (दो खण्ड) (भाषा टीका सहित)	टीकाकार, पं0 गोविन्द दास 'विनीत' श्याम लाल हीरालाल श्यामकाशी प्रेस, मथुरा प्रथम बार, सं0 1996